॥ श्रीः ॥

काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२२



बौद्धाचार्यश्रीधर्मकीर्तिप्रणीतः

न्यायबिन्दुः

श्रीधर्मोत्तराचार्यकृतटीकासमेतः



चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

॥ श्रीः ॥

काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला

११



(बौद्धन्यायविभागे प्रथमपुष्पम्)



बौद्धाचार्यश्रीधर्मकीर्तिप्रणीतः

न्यायबिन्दुः

श्रीधर्मोत्तराचार्यकृतटीकासमेतः ।

स चायं

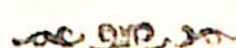
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयाध्यापक

आचार्य श्रीचन्द्रशेखरशास्त्रिणा

हिन्दीभाषायामनुवादितः भूमिकया विषमस्थलटिप्पण्या च संयोज्य सम्पादितः ।



चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१



सं० २०११] द्वितीयं संस्करणम् [ई० १९५४

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८, बनारस

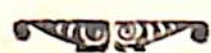
The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Banaras.
1954

प्रथम संस्करण सन् १९२४ ई.
मूल्य ५)

मुद्रकः —
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

KASHI SANSKRIT SERIES

22



(Buddhist Nyāya Section No. I)

THE

NYĀYA BINDU

OF

S'RĪ DHARMA KĪRTI

WITH A SANSKRIT COMMENTARY

BY

S'RĪ DHARMOTTARĀCHĀRYA

EDITED WITH

Notes, Introduction & Hindi Translation

BY

ĀCHĀRYA CHANDRAS'EKHARA S'ĀSTRĪ
Professor, Banaras Hindu University.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES
BANARAS-1
1954

भूमिकाविषयसूची

भूमिका

(१) प्राथमिक निवेदन ।

हर्षका विषय है कि आजकलके विद्वानोंका हृदय क्रमशः धार्मिक विषयोंमें उदार विचारों का होता जा रहा है। भिन्न २ मत वाले विद्वानोंके द्वारा भिन्न २ मतकी पुस्तकों का सम्पादन उसीका शुभ परिणाम है। यद्यपि प्राचीन कालके भारतीय विद्वान् भी भिन्न २ मतोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करते थे तथापि उनका अध्ययन प्रायः उन ग्रन्थोंका खण्डनमण्डन करनेके उद्देश्यसे ही होता था, जैसा कि स्वामी शङ्कराचार्य, जैन न्यायके उद्धारक श्री अकलङ्कदेव आदिके ग्रन्थोंको देखनेसे पता चलता है। हर्षकी बात है कि आजकलके बहुतसे विद्वानोंका यह मत हो गया है कि प्रत्येक धर्ममें अधिक परिमाणमें सत्य विद्यमान है। पश्चिमीय विद्वानोंके विचार इस विषयमें बहुत ही प्रशंसनीय हैं। हमारे बहुतसे ग्रन्थोंको और बौद्ध साहित्यके अधिकांश ग्रन्थोंको संसारके प्रकाशमें लानेका श्रेय उन्हींको प्राप्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ और उसके कर्ता आचार्य धर्मकीर्ति और धर्मोत्तरके विषयमें भी हमको सर्व प्रथम उन्हींसे विदित हुआ था। यद्यपि आचार्य धर्मकीर्ति और न्यायबिन्दुका नाम सर्वदर्शनसंग्रह इत्यादि हिन्दूग्रन्थों और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि जैन ग्रन्थों में विद्यमान होनेके कारण भारतीय विद्वानोंको पहिलेसे ही विदित था, किन्तु अनुसन्धानप्रियताके अभावके कारण उनका जानना न जानना एक सा ही था। हमको पहले पहल 'आचार्य धर्मोत्तर' का नाम बतलानेवाला पश्चिमीय विद्वान् (W. Wassiljew) डब्ल्यू वैसिलज्यू नामका एक रूसी विद्वान् था। यह विद्वान् सन् १८४० से १८५० तक (दस वर्ष तक) पेकिनमें रहा। यह चीनी और तिब्बी दोनों भाषाओंका अच्छा पण्डित था। इसने इन भाषाओंके ज्ञानसे बहुतसे बौद्ध ग्रन्थोंका पता लगाया।

इन्होंने अपने सबसे पहिले ग्रन्थ 'बुधिज्म, इटस् डागमस, हिस्ट्री ऐण्ड लिटेरेचर' (Buddhism, its Dogmas, History & Literature) में धर्मोत्तरके विषयमें बहुत कुछ बतला दिया है।

न्यायबिन्दुको सर्व प्रथम प्रो॰ पीटसर्न साहिबने १८८९ में निकाला था। यह संस्करण उन्होंने उक्त ग्रन्थकी दो हस्तलिखित प्रतियों (Manuscripts) की सहायतासे सम्पादन किया था, जिनमें से एक उनको काम्बेके शान्तिनाथके जैन मन्दिरमें ताड़पत्र पर लिखी हुई मिली थी। (पीटर्सन साहबने इस प्रतिका नाम (A) और हमने (क) रखा है।) और दूसरी रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखाके भाऊ दाजीके हस्तलिखित ग्रन्थोंके संग्रहमें भगवान् दास केवलदास की सूचनाओंमेंसे मिली थी। (पीटर्सन साहबने इसका नाम (B) और हमने (ख)

रखा है।) क. और ख. दोनों पुस्तकोंमें धर्मोत्तराचार्य की न्यायबिन्दु टीका थी, किन्तु धर्मकीर्ति का मूल ग्रन्थ केवल ख. में ही था।

हमने पाठोंके परिवर्तन क. और ख. से चिह्नित किये हैं। छपी पुस्तकको हमने अपनी टिप्पणीमें मुद्रित पुस्तक ही लिखा है और हमारी सम्मतिमें जहाँ मुद्रित पुस्तकका पाठ बदलने योग्य था उसको भी हमने टिप्पणीमें दिखला दिया है। यद्यपि हमने पीटर्सन साहिबकी सभी अशुद्धियोंको बतलाया है तथापि हमारे ग्रन्थमें भी प्रूफ सम्बन्धी बहुतसी अशुद्धियां अनुभव हीनताके कारण रह गई होंगी। आशा है विद्वज्जन मुझको इसके लिए क्षमा करते हुए उनको सुधार कर पढ़ेंगे।

(२) बौद्धन्यायके इतिहास पर एक दृष्टि।

यद्यपि दर्शनशास्त्रके आरंभिक कालमें भी बहुतसे शास्त्रार्थ हुआ करते थे तथापि उस समय न्यायकी ओर किसीका विशेष लक्ष्य न था। बुद्धके निर्वाणके समयकी पुस्तकोंमें भी इसका कुछ विवरण नहीं है। गौतमका न्यायसूत्र उस समय तक बन चुका था। किन्तु बौद्ध और जैन दार्शनिकोंका ध्यान अभी तक उधर आकर्षित नहीं हुआ था। यद्यपि सुत्तपिटकके दिग्घनिकायके भाग ब्रह्मजाल सुत्त, मज्झिमनिकायके भाग अनुमान सुत्त और खुद्दकनिकायके भाग उदान तथा विनयपिटकके परिवार और पातिमोक्ख तथा अभिधम्मपिटकके कथावत्थुप्रकरण आदि ग्रन्थोंमें न्यायके कुछ शब्द तथा निर्णय करनेके कुछ नियम मिलते हैं किन्तु हमारी सम्मतिमें उनपर भी गौतमके न्यायसूत्रोंकी छाप पूर्ण रूपसे लगी हुई है। क्योंकि उनमें 'उपनय' तथा 'निग्रह' का भी कुछ वर्णन किया गया है। नीति (अथवा न्याय) शब्दका उल्लेख पालीके केवल एक ग्रन्थ मलिन्दपन्होमें (जो कि भिक्षुसूत्र भी कहलाता है) मिलता है। इससे भलीप्रकार पता चल सकता है कि उस समयके बौद्ध आचार्योंने इस विषय पर कितना प्रकाश डाला है।

ईस्वी सन्‌के आरम्भमें भारत पर कुशान, तुरुष्क अथवा सीथियन लोगोंके आक्रमण हुए। उनके एक सरदारका नाम कनिष्क था। उसने काश्मीर, पल्हव और देहलीको विजय किया। उसके विषयमें कहा जाता है कि उसीने ईस्वी सन् ७८ में एक सम्वत् की नींव डाली। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और बौद्धोंका एक नया सम्प्रदाय महायानको स्थापित किया। तबसे पाली त्रिपिटकमें वर्णित प्राचीन सम्प्रदाय हीनयान कहा जाने लगा। महायान क्रमशः नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, चीन, जापान और कोरिया आदिमें फैल गया और हीनयान सिंहल और वहांसे वर्मा और श्याम आदिमें फैल गया। भारतमें दोनों ही सम्प्रदाय चलते रहे।

कनिष्कके संरक्षण तथा पार्श्व (या पूर्णक) और वसुमित्रके निरीक्षणमें ५०० बौद्ध भिक्षुओंकी एक बृहत्सभा जालन्धरमें हुई। इसमें पालीके सुत्त, विजय तथा अभिधम्म इन त्रिपिटकोंकी टीका स्वरूप क्रमशः सूत्र उपदेश, विनय विभाषा और अभिधर्म विभाषा बनाये गये। महायान सम्प्रदायके साहित्यमें सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है।

यद्यपि कनिष्कसे पहिले भी संस्कृतमें कुछ बौद्ध ग्रन्थोंकी रचना हो चुकी थी (उदाहरणके लिये अभिधर्म विभाषा अथवा अभिधर्म महाविभाषा शास्त्र जिसकी रचना कनिष्ककी सभामें की गई थी, कात्यायनी पुत्रके अभिधर्मज्ञान प्रस्थानशास्त्र (यह पाली अभिधम्म पिटककी टीका है और बुद्धके निर्वाणके ३०० वर्ष पश्चात् तथा कनिष्कसे १०० वर्ष पहिले बनाया गया था) के ऊपर टीका है) तथापि संस्कृतको बौद्धसाहित्यकी भाषा बनानेका श्रेय उसीको प्राप्त है। उसके समयसे लगाकर असंख्य संस्कृत बौद्धग्रन्थोंकी रचना हुई है, जिनमेंसे नवधर्म संज्ञक नौ ग्रन्थ महायान सम्प्रदायके विशेष रूपसे पूज्य हैं।

नव धर्म ये हैं—

(१) अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (२) गंडव्यूह, (३) दशभूमीश्वर, (४) समाधिराज, (५) लंकावतार, (६) सद्धर्मपुण्डरीक, (७) तथागतगुह्यक, (८) ललितविस्तर और (९) सुवर्णप्रभास। इनमें अनेक स्थलों पर न्यायका भी उल्लेख किया गया है।

बुद्धने अपना उपदेश पाली अथवा मागधी भाषामें दिया था। उसके पश्चात् उसकी शिक्षायें बौद्ध भिक्षुओं की तीन सभाओंमें एकत्रित की गईं। ये सभायें राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्रमें क्रमसे राजा अजातशत्रु, कालाशोक और अशोकके संरक्षणमें हुई थीं। पहिली सभा ईसासे ४९० वर्ष, दूसरी ३९० वर्ष तथा तीसरी २५५ वर्ष पूर्व हुई थी। (पहिली सभा बुद्धके निर्वाणके संवत्में, दूसरी उसके १०० वर्ष पश्चात् और तीसरी अशोकके शासनकालके १७वें वर्षमें हुई थी। अशोक ईसासे २७२ वर्ष पूर्व सिंहासनपर बैठा था)। जो भिक्षु प्रथम सभामें एकत्रित हुए थे वह (१) थेरा कहे जाने लगे। वैशालीकी द्वितीय सभाके निर्णयसे दस सहस्र भिक्षु थेरावादके कुछ नियमों का उल्लंघन करनेके कारण थेरा संघसे पृथक् कर दिये गये। ये निकाले हुए धर्मगुरु (२) महासांघिका कहलाये। मूल बौद्ध धर्ममें से पृथक् होने वाला पहिला सम्प्रदाय यही था। उन्होंने थेरावादमें कुछ नियम घटाये तथा कुछ बढ़ा दिये। इसके पश्चात् बुद्धके निर्वाणके २०० वर्षोंके भीतर मूलधर्मसे पृथक् (Heretical) सोलह और सम्प्रदाय चले, उनके नाम ये हैं—(३) गोकुलिका, (४) एकब्बोहारिक, (५) पण्णति, (६) बाहुलिक (७) चेतिय, (८) सब्बत्थि, (९) धम्मगुत्तिक, (१०) कस्सपीय, (११) संकतिक, (१२) सुत्त, (१३) हिमवत, (१४) राजगिरीय, (१५) सिद्धत्थिक, (१६) पुब्बसेलिय, (१७) अपरसेलिय, (१८) वजिरिय।

तीसरी सभाके पश्चात् लगभग ईसाके २५५ वर्ष पूर्व अशोकके पुत्र महिन्दने त्रिपिटकों की शिक्षाका सिंहलमें प्रचार किया। जहाँ के पुरोहितोंने इसको कण्ठ रख २ कर चलाये रखा। महावंश अध्याय ३३ के अनुसार प्रथम ये राजा वत्तगामणिके समयमें लिखे गये, जिसने ईसासे १०४ वर्ष से ७६ वर्ष पूर्व तक सिंहलका राज्य किया था। त्रिपिटकके अतिरिक्त अन्य भी बहुतसे ग्रन्थ पाली में लिखे गये थे जिससे पाली साहित्य बहुत विस्तीर्ण हो गया।

कुछ समय के पश्चात् उपरोक्त १९ सम्प्रदायोंमें से कुछ लोप हो गये तथा कुछ नये उत्पन्न हो गये। इसके परिणामस्वरूप कनिष्कके समयमें चार समुदायोंमें निम्नलिखित १८ सम्प्रदाय थे—

१. आर्यसर्वास्तिवाद
(१) मूल सर्वास्तिवाद
(२) काश्यपीय
(३) महीशासक
(४) धर्मगुप्तीय
(५) बहुश्रुतीय
(६) तामरथारीय
(७) विभज्यवादिन्
२. आर्यसम्मतीय
(८) कुरुकुल्लक
(९) आवन्तिक
(१०) वात्सीपुत्रीय

} ये सब वैभाषिक दर्शनके सिद्धान्त वाले हैं।

३. आर्यमहासांघिक
(११) पूर्व शैल
(१२) अपर शैल
(१३) हैमवत
(१४) लोकोत्तरवादिन्
(१५) प्रज्ञप्तिवादिन्
४. आर्यस्थविर
(१६) महाविहार
(१७) जेतवनीय, और
(१८) अभयगिरिवासिन्

} ये दार्शनिक विचारोंमें सौत्रान्तिक सम्प्रदायके हैं।

उपरोक्त सब सम्प्रदाय हीनयानके हैं, यद्यपि पीछेसे ये महायानमें भी मिल गये थे। इनके दार्शनिक विचार क्रमसे वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत के हैं। कनिष्कके स्थापित किए हुए महायानने माध्यमिक और योगाचार नामके दो और दार्शनिक सम्प्रदायोंकी नींव रखी। अब बौद्धोंमें चार दार्शनिक सम्प्रदाय हो गये—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) माध्यमिक और (४) योगाचार।

वैभाषिक सर्वास्तिवाद सम्प्रदायका ही पीछे का नाम है, जो अपने नामके अनुसार संसारकी आन्तरिक और बाह्य वास्तविकताको स्वीकार करता है। वैभाषिक कहता है कि हमारा ज्ञान और ज्ञेय (उस ज्ञानके विषय) दोनों ही वास्तविक हैं। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ अभिधर्मज्ञान प्रस्थान शास्त्र अथवा केवल ज्ञान प्रस्थान शास्त्र है, जो

बुद्धके ३०० वर्ष पश्चात् बना था। इसका दूसरा ग्रन्थ अभिधर्म महाविभाषा शास्त्र अथवा केवल विभाषा है, जो सन् ७८ ईस्वीके लगभग कनिष्ककी सभामें बनाया गया था। इस सम्प्रदायका नाम वैभाषिक इसी विभाषासे आया है। क्योंकि विभाषाका अर्थ टीका है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धकी शिक्षाओंपर निर्भर करनेकी अपेक्षा टीकाओंपर ही निर्भर करनेके कारण यह सम्प्रदाय वैभाषिक कहलाता है। संघभद्रका न्यायानुसार शास्त्र अथवा कोशकारक शास्त्र, (जो ४८९ ईस्वीके लगभग बना था) इस सम्प्रदायका बड़ा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है।

सौत्रान्तिक ज्ञान और बाह्य विषयोंकी सत्ताको अनुमानके द्वारा स्वीकार करता है। सौत्रान्तिक शब्द सूत्रान्तसे निकाला गया है, जिसका अर्थ सूत्रका अन्त है। सम्भवतः टीकाओंकी अपेक्षा बुद्धकी शिक्षाओं पर ही निर्भर करने के कारण यह सम्प्रदाय सौत्रान्तिक कहलाता है। वह मूल जिसके आधार पर सौत्रान्तिक दर्शन बना है आर्य-स्थविर (अथवा पालीके अनुसार थेराओं) और महासांघिकों के सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखता है। यह कहा जाता है कि इस सम्प्रदायके दार्शनिक सिद्धान्तोंको एक धर्मोत्तर या उत्तरधर्म नामके आचार्यने कनिष्कके समयमें सन् ७८ ई० के लगभग काश्मीरमें बनाया था। परन्तु चीनी यात्री हुएन्त्सांग (जो भारतमें ७ वीं शताब्दीके आरम्भमें आया था) के अनुसार इस सम्प्रदायका संस्थापक तक्षशिलाका प्रसिद्ध अध्यापक कुमारलब्ध था, जिसने इस विषय पर बहुतसे अमूल्य ग्रन्थ लिखे थे। कुमारलब्ध, नागार्जुन, आर्यदेव और अश्वघोषके समकालीन थे, अतएव उनके सन् ३०० ई० के लगभग होनेका अनुमान किया जाता है। दूसरे अत्यन्त प्रसिद्ध अध्यापक श्रीलब्ध थे, जिन्होंने सौत्रान्तिक सम्प्रदायके विभाषाशास्त्र को लिखा था। हुएन्त्सांगने अयोध्यामें संघारामके वह खंडहर देखे थे जिनमें श्रीलब्ध रहते थे।

योगाचारका सिद्धान्त है कि बाह्य पदार्थ तो वास्तविक नहीं हैं किन्तु हमारे ज्ञानकी वास्तविकताका निषेध नहीं किया जा सकता। योगाचार शब्द योग और आचार दो शब्दों से बना है। योग करने को योगाचार कहते हैं। भूमियों (बौद्ध पूर्णताकी १७ श्रेणियों) की प्राप्तिका असाधारण कारण केवल योगको ही कहनेके कारणसे यह योगाचार कहलाता है। योगाचारमें प्रतिपादित किया हुआ मुख्य सिद्धान्त आलय विज्ञान है। यह चेतनात्मक (Conscious) अवस्थाओं का मूल है और हमारे 'आत्मा' के समान है। इस सम्प्रदायके संस्थापकका कुछ भी पता नहीं चलता। परन्तु तिब्बत और चीनकी पुस्तकोंमें लंकावतार सूत्र, महासमय सूत्र, बोधिसत्त्वचर्यानिर्देश और सप्तदश भूमिशास्त्र को इस संप्रदायके प्राचीन तथा प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। मैत्रेयनाथ और आर्य असङ्ग इसके आरंभिक अध्यापक थे। ऐसा प्रतीत होता है कि योगाचार की स्थापना लगभग सन् ३०० ई० में हुई थी, जब कि लंकावतार सूत्र आदि बनाये गये थे।

माध्यमिकोंका सिद्धान्त है कि हमारा विज्ञान और उनके विषयीभूत बाह्यपदार्थ

न तो पूर्ण रूपसे वास्तविक और न पूर्ण रूपसे काल्पनिक ही हैं। माध्यमिक शब्द मध्यमसे बनता है। मध्यम बीच को कहते हैं। दोनों अन्तके सिद्धान्तोंको छोड़नेके कारणसे यह माध्यमिक कहलाता है। अर्थात् यह न तो सर्वास्तित्ववादी ही है, और न सबके अस्तित्वका निषेध ही करता है। किन्तु इसने एक बीचका मार्ग चुनकर निश्चय किया जो कि संसारकी एक वैकल्पिक सत्ता (Conditional existence) थी। यह कहा जाता है इसके संस्थापक नागार्जुन २५०-३२० ईस्वी तक हुए हैं। किन्तु वास्तवमें इसके सिद्धान्त उससे प्राचीन ग्रन्थ प्रज्ञापारमितामें मिलते हैं। नागार्जुनकी माध्यमिक कारिका, बुद्धपालितकी मूल माध्यमवृत्ति, आर्यदेवका हस्तबल, भव्यकी मध्यमहृदयकारिका, कृष्णका मध्यम प्रतीत्यसमुत्पाद, चन्द्रकीर्तिकी माध्यमिक वृत्ति और जयानन्दकी माध्यमिकावतार टीका माध्यमिक सम्प्रदायके मुख्य ग्रन्थ हैं। नागार्जुनकी एक मूल माध्यमिक वृत्ति अकुतोभयका तिब्बी भाषामें अनुवाद मिलता है, जिसके अन्तमें माध्यमिक दर्शनके इन आठ प्रचारकों (Expounders) के नाम दिये हुए हैं—१आर्य नागार्जुन, २स्थविर बुद्धपालित, ३चन्द्रकीर्ति, ४देवशर्मा, ५गुणश्री, ६गुणमति, ७स्थिरमति और ८भव्य (या भावविवेक)।

उपर्युक्त चारों दार्शनिक सम्प्रदायोंके साथ ही बौद्ध जनता में न्यायके अध्ययनका भी विकाश होने लगा। अब चारों ही सम्प्रदायोंके नेता अपने सिद्धान्तके मण्डन और दूसरोंके सिद्धान्तके खण्डन के लिये न्यायको उपयोगी समझने लगे। जैसा कि माध्यमिक सम्प्रदायके नागार्जुन और आर्यदेव तथा योगाचार सम्प्रदायके मैत्रेय, असंग और वसुबन्धुके लेखोंसे स्पष्ट है। अपने पक्षके मण्डन और परपक्षका खण्डन करनेके लिये उपयोगकी हुई युक्तियोंने अक्षपादके प्राचीन न्यायका प्रचार और बौद्धोंमें बहुतसे नैयायिकोंको उत्पन्न कर दिया।

बौद्धोंमें न्यायके ऊपर विस्तारसे प्रथम विचार करने वाला माध्यमिक सम्प्रदायका प्रवर्तक आर्य नागार्जुन था। यह महाकौशल देशके विदर्भ नगरमें आन्ध्र राजा सद्वाह अथवा सातवाहनके समयमें उत्पन्न हुआ था। इसने कृष्णा नदीके तटपर श्रीपर्वतकी गुफामें बहुत-सा समय ध्यान करनेमें व्यतीत किया था। ये 'शरह' के शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने एक बड़े शक्तिशाली राजा भोजदेवको बौद्ध बनाया था। बौद्धग्रन्थोंके अनुसार ये बुद्धके निर्वाणके ४०० वर्ष पश्चात् अथवा ईसासे ३३ वर्ष पूर्व हुए थे। किन्तु म. म. डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणकी सम्मतिमें इनका समय कुछ पीछे है। इन्होंने अपनी माध्यमिक कारिकामें प्राचीनन्यायके परिभाषिक शब्द पुनरुक्त, सिद्धसाधन, साध्यसम और परिहारका प्रयोग और अक्षपादके सिद्धान्त प्रमाणके दीपकके समान स्वपरप्रकाशकत्वका निराकरण किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ विग्रहव्यावर्तनी कारिकामें भी अक्षपादके सिद्धान्तकी समालोचना की थी। प्रमाण विटेतन या प्रमाणविध्वंसन और उपायकौशल्यहृदयशास्त्र इनके न्याय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। किन्तु इनपर प्राचीन न्यायका पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है। क्योंकि इनमें

इन्होंने नैयायिकों के १६ पदार्थ माने हैं। कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धि हेतुका वर्णन भी इन्होंने किया है।

आर्यदेव (लगभग ३२० ई०), मैत्रेय (लगभग ४०० ई०), आर्य असंग (लगभग ४०५-४७० ई० तक) और वसुबन्धु (लगभग ४१० से ४९० तक) ने भी बौद्धन्यायपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु इनके ग्रन्थों पर भी प्राचीन न्यायका पूरा प्रभाव देखनेमें आता है। ये ग्रन्थकार बौद्धन्यायकी आदिम अवस्थाके थे।

सारांश यह है कि ईसासे पूर्व छठीं शताब्दीमें बौद्ध धर्मकी स्थापनासे लेकर ईसाकी चौथी शताब्दीमें इसका चार दार्शनिक संप्रदायोंमें विकाश होने तक बौद्धन्यायके ऊपर कोई भी क्रमबद्ध ग्रन्थ नहीं था। केवल दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थोंमें न्यायका यतस्ततः आभास देखनेमें आता था। नागार्जुनने लगभग २०० ई० में न्यायपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा। किन्तु वह केवल प्राचीन न्यायके सिद्धान्तोंकी आलोचना मात्र थी। ई० ४०० से ५०० तक मैत्रेय, असंग और वसुबन्धुने भी न्यायको चलाया, किन्तु उनका लेख केवल आकस्मिक था। क्योंकि वह योगाचार और वैभाषिकके सिद्धान्तोंसे मिला हुआ था। हुएन्त्सांगके बतलाये हुए वसुबन्धुकृत तीनों ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। अतएव उनके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ४५० ई० से वह समय आया जब न्याय साधारण दर्शनसे बिलकुल पृथक् हो गया और बहुतसे बौद्ध लेखकोंका ध्यान इधर पूर्णरूपसे आकर्षित हुआ। इनमें दिङ्नागका नम्बर सबसे पहिला है।

दिङ्नागको आधुनिक बौद्धन्यायका पिता कहना अनुचित न होगा। क्योंकि अधिकांश बौद्धन्यायके सिद्धान्तोंकी नींव उसीने डाली है। उसने नालन्द, उड़ीसा, महाराष्ट्र और दक्षिण (मद्रास) की यात्रा की थी। ये जहाँ गये वहाँ इनको अपने विरोधियोंसे शास्त्रार्थ ही करना पड़ा। उनका सम्पूर्ण जीवन चोटें करने और सहनेमें ही व्यतीत हुआ। उनके मरने पर भी कालीदास, उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र, मल्लिनाथ, कुमारिल भट्ट और पार्थसारथिमिश्रने उनके ऊपर कम आक्रमण नहीं किये। वेदान्ती और जैनी भी उनपर आक्रमण करनेसे न चूके। यहाँ तक कि बौद्धसाधु धर्मकीर्तिने भी उनका विरोध करनेका प्रयत्न कर ही डाला। दिङ्नागके ग्रन्थोंसे उनकी सार्वतोमुखी प्रतिभाका खूब परिचय मिलता है। प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रहमरु, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, प्रमाणशास्त्र न्यायप्रवेश, आलम्बन परीक्षा, आलम्बन परीक्षावृत्ति और त्रिजालपरीक्षा इनके न्यायपर स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इनमें से इनका प्रमाणसमुच्चय सबसे प्रधान है और यही बौद्धन्यायका पथप्रदर्शक है। इसमें छः अध्याय हैं— (१) प्रत्यक्ष, (२) स्वार्थानुमान, (३) परार्थानुमान, (४) हेतु दृष्टान्त, (५) अपोह और (६) जाति।

दिङ्नागके पश्चात् परमारथ (४९८ ई० से ५६९ ई० तक) हुए। इन्होंने कुछ बौद्धग्रन्थोंका चीनी भाषामें अनुवाद किया। इन्होंने एक न्यायभाष्य भी लिखा था।

शंकरस्वामिन् (लगभग ५५० ई०) आचार्य दिङ्नागके शिष्य थे। कहा जाता है कि शंकरस्वामिन् और अन्य दश आचार्योंके द्वारा न्यायशास्त्र दिङ्नागसे शालिभद्र तक पहुँचा था। इन्होंने एक ग्रन्थ न्यायप्रवेशशास्त्र या न्यायप्रवेशतर्कशास्त्र नामका लिखा था।

धर्मपाल (लगभग ६०० से ६३५ ई० तक) कांचीपुर (वर्तमान कंजीवरम्) के राजमन्त्रीके ज्येष्ठ पुत्र थे। यह धर्मकीर्तिके गुरु थे। इन्होंने बाल्यावस्थामें ही वैराग्य ले लिया था। आरम्भमें ये नालन्द विश्वविद्यालयमें पढ़ने गये, किन्तु पीछेसे ये उस विद्यालयके प्रधान बना दिये गये। ये योगाचार मतावलम्बी थे। इन्होंने आलम्बन प्रत्यय ध्यान शास्त्रव्याख्या, विद्यामात्र सिद्धिशास्त्र व्याख्या और शत–शास्त्र वैपुल्य व्याख्या आदि ग्रन्थ लिखे थे।

शालिभद्र (६३५ ई०) बंगालके राजा समतटके कुटुम्बके थे। ये ब्राह्मण थे। नालन्द विश्वविद्यालयमें ये धर्मपालके शिष्य थे, जिसके ये उनके पीछे प्रधान हो गये थे। चीनी यात्री हुएन्त्सांग (सन् ६३५ ई०) इनका शिष्य था। शालिभद्र बड़े भारी विद्वान् और नैयायिक थे।

आचार्य धर्मकीर्ति (लगभग ६३५ से ६५० ई० तक)के विषयमें आगे विस्तारसे विचार किया जावेगा।

देवेन्द्रबोधि (लगभग ६५० ई०) धर्मकीर्तिके समकालीन थे। इन्होंने प्रमाण-वार्तिकपंजिका बनाई थी। कहा जाता है कि धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिकके ऊपर टीका लिखनेके योग्य देवेन्द्रबोधिको ही चुना। तदनुसार देवेन्द्रबोधिने टीका बनाकर धर्मकीर्तिको दिखलाई किन्तु उसने उसको धो डाली। देवेन्द्रबोधिने फिर बनाकर दिखलाई इस वार धर्मकीर्तिने उसको जला दी। किन्तु तीसरी बार देखने पर धर्मकीर्तिने उसको रहने दी।

शाक्यबोधि (लगभग ६७५ ई०) ने जो कि देवेन्द्रबोधिका शिष्य था एक टीका प्रमाणवार्तिक पंजिका पर बनाई। जिसका नाम उन्होंने प्रमाणवार्तिक (पंजिका) टीका रक्खा।

न्यायबिन्दुटीका (धर्मकीर्तिका न्यायबिन्दु), हेतुबिन्दु (धर्मकीर्तिका) टीका, वादन्याय (धर्मकीर्तिकृत) व्याख्या, सम्बन्धपरीक्षा (धर्मकीर्तिकृत) टीका, आल-म्बनपरीक्षा (दिङ्नागकृत) टीका और सन्तानान्तरसिद्धि (धर्मकीर्तिकृत) टीकाके कर्ता विनीतदेव (लगभग ७०० ई०) राजा गोविन्दचन्द्रके पुत्र राजा ललितचन्द्रके समयमें नालन्दमें रहते थे। धर्मकीर्तिकी मृत्यु भी गोविन्दचन्द्रके समयमें हुई थी। गोविन्दचन्द्रके पिता विमलचन्द्रका विवाह भर्तृहरि (जो मालवेके प्राचीन राजवंशके थे।) की बहिनसे हुआ था। यदि हम भर्तृहरि और इस नामके वैयाकरणीको जो ६५१ या ६५० ई० में परलोक गये एक ही व्यक्ति मान लें तो हम उनके समकालीन गोविन्दचन्द्रको ७ वीं शताब्दीके मध्यमें रख सकते हैं। धर्मकीर्तिकी मृत्युका भी

यही समय है। इससे परिणाम निकाला जा सकता है कि गोविन्दचन्द्रके पुत्र ललितचन्द्र ७वीं शताब्दीके अन्तमें हुए होंगे। अतएव ललितचन्द्रके समकालीन विनीतदेव भी उसी समय हुए होंगे। क्योंकि यह विचार धर्मकीर्तिके समयसे भी मिलता है (जिसकी उसने टीका की थी।)

रविगुप्त (लगभग ७२५ ई०) काश्मीरमें उत्पन्न हुए थे। ये वारेन्द्रके राजा हर्षके समकालीन थे और न्यायमंजरीकार जयन्तसे पूर्व उत्पन्न हुए थे। ये अवश्य ही सातवीं शताब्दीके पूर्वमें रहे होंगे। क्योंकि उनका शिष्य प्रसिद्ध तांत्रिक साधु सर्वज्ञ मित्र उस शताब्दीके मध्यमें था। गुप्त सम्वत् ४३५ (७५४ ई०) में वसन्तसेनके लेखोंमें उनको सर्वदण्डनायक और महाप्रतिहार कहा गया है। उन्होंने धर्मकीर्तिके प्रमाणवर्तिकपर प्रमाणवार्तिकवृत्ति बनाई थी।

विशालामलवती नाम प्रमाण समुच्चयटीकाके लेखक जिनेन्द्रबोधि (लगभग ७२५ ई०) थे। सम्भवतः ये वही व्यक्ति हैं जिन्होंने ८वीं शताब्दीमें पाणिनिव्याकरणके ऊपर प्रसिद्ध न्यास लिखा था।

शान्तरक्षित (७४९ ई०) जहूर (बंगालमें या लाहौरके पास) के राजवंशमें उत्पन्न हुए थे। यद्यपि इनका समय अनिश्चित ही है तथापि यह कहा जाता है कि वह गोपाल (जिसने ७०५ ई० तक राज्य किया) के समयमें जन्मे और धर्मपाल (जो ७६५ में राजा हुआ) के समयमें मरे थे। वे स्वतन्त्र माध्यमिक मतके अनुयायी और नालन्दके अध्यापक थे। ये राजा खीस्रानडीत्सान Khrisron-dea-tsan (जो ७२८ ई० में उत्पन्न और ८६४ ई० में मरा) के निमन्त्रणपर तिब्बत गये थे। राजाने शान्तरक्षितकी सहायतासे ७४९ ई० में समयेके बिहार (Monastery of sam-ye) को बनवाया था जो मगधके उदन्तपुर विहारके जैसा बनाया गया था। तिब्बतमें समये सबसे पहिला नियमित विहार था और शान्तरक्षित उसके पहिले महन्त थे। उन्होंने तिब्बतमें १३ वर्ष तक अर्थात् ७६२ ई० तक कार्य किया। वे वहां आचार्य बोधिसत्वके नामसे प्रसिद्ध थे। वे निम्नलिखित ग्रन्थोंके कर्ता थे वादन्यायवृत्ति विपंचितार्थ, धर्मकीर्तिके वादन्याय की टीका और तत्वसंग्रहकारिका-यह ३१ अध्यायोंका अमूल्य दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें सांख्य जैन आदिका खण्डन भी है।

न्यायबिन्दु पूर्वपक्षे संक्षिप्त (धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुकी समालोचनाओं का संक्षेप) और तत्वसंग्रह पंजिका (शान्तरक्षितके तत्वसंग्रहकी टीका) के कर्ता कमलशील (लगभग ७५० ई०) शान्तरक्षितके अनुगामी थे। इन्होंने तिब्बतमें महायान होशंग नामक चीनी साधुको पराजित करके बड़ा नाम कमाया था।

सर्वज्ञसिद्धि कारिका, बाह्यार्थसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षा, अन्यापोहविचार कारिका और ईश्वरभंग कारिकाके कर्ता कल्याणरक्षित धर्मोत्तराचार्यके गुरु थे। ये राजा धर्मपाल के समकालीन थे, जिनका देहान्त ८२९ ई० में हुआ था।

धर्मोत्तराचार्य (लगभग ८४७ ई०)

धर्मोत्तर, जिसका वर्णन 'तारानाथ की गेस्चिच्टे देव बुधिज्मस वाँन शीफनर' के पृ० २२५ और 'ड्पाग-ब्साम-ब्जान' के पृ० १४४ में किया गया है—जिनको आचार्य धर्मोत्तर या धर्मोत्तराचार्य भी कहते हैं—तिब्बी भाषामें 'चांस-मृचांग' के नामसे प्रसिद्ध है। ये कल्याणरक्षित और काश्मीरके धर्माकरदत्तके शिष्य थे। यह प्रतीत होता है कि राजा वाणपालके बंगालमें राज्य करनेके समयमें ही ये काश्मीरमें हुए थे। ब्राह्मण नैयायिक श्रीधर (लगभग ९९१ ई०) ने अपने ग्रन्थ न्यायकन्दली (पृ० ७६ विजयानगरम् सीरीज) में, धर्मोत्तरटिप्पणकके कर्ता जैन दार्शनिक मल्लिवादिन्ने लगभग ९६२ ई० के धर्मोत्तरकी न्यायविन्दुटीकाकी टीका धर्मोत्तर टिप्पणकमें और प्रसिद्ध स्याद्वादरत्नाकरावतारिका के कर्ता रत्नप्रभसूरिने ११८१ ई० में इनके नामका उल्लेख किया है।

(मल्लिवादिन्के ग्रन्थमें उसका संवत् ८८४ पड़ा हुआ है। यदि इसे विक्रम माना जावे तो यह ८२७ अथवा यदि इसे शक माना जावे तो यह ९६२ ई० होता है। एक प्रकारके विद्वानोंका मत है कि मल्लिवादिन् धर्मोत्तरके समकालीन थे किन्तु दूसरे प्रकार के विद्वान् उनका समय एक शताब्दी पीछे निर्धारित करते हैं।)

धर्मोत्तराचार्यके बनाये हुए निम्नलिखित ग्रन्थोंका पता चलता है—

१. न्यायबिन्दुटीका-धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दु पर विस्तृत टीका। यह अपनी मूल अवस्थामें छप कर पाठकोंके हाथ में है। इसका तिब्बी अनुवाद भी मिलता है।

धर्मोत्तराचार्यके निम्नलिखित ५ ग्रन्थोंका और पता चला है। किन्तु उनका संस्कृत लुप्त है। केवल तिब्बी अनुवाद मिलता है। वे ग्रन्थ ये हैं—

२. प्रमाणपरीक्षा, ३. अपोह नाम प्रकरण, ४. परलोकसिद्धि, ५. क्षणभङ्गसिद्धि और ६. प्रमाणविनिश्चय टीका-यह धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चयकी टीका है।



धर्मोत्तराचार्यके पश्चात् बौद्ध न्यायके अन्य भी अनेक विद्वान् हुए हैं। किन्तु उन्होंने न्यायबिन्दुके ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। अतएव अपना प्रयोजन निकल जानेसे हम इस विषयको यहीं समाप्त करके अब न्यायबिन्दुकार धर्मकीर्त्तिके ऊपर विचार करते हैं।

(३) धर्मकीर्ति।

(धर्मकीर्तिके विषयमें अनेक ग्रन्थोंमें खोजने पर भी हमको डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणके इतिहाससे विशेष कहीं भी नहीं मिला। अतएव यहां उन्हीं का अविकल अनुवाद दिया जाता है—)

जीवन चरित्र।

धर्मकीर्ति दक्षिणके चूडामणि (सम्भवतः यह चोल देशका नाम है) राज्यमें उत्पन्न हुए थे। यद्यपि इस नामका कोई भी देश नहीं है तथापि सभी प्रकारके विद्वान् त्रिमलयको धर्मकीर्तिकी जन्मभूमि कहते हैं। सम्भव है कि त्रिमलयका ही प्राचीन

नाम चूडामणि रहा हो। उनके पिता ब्राह्मण जातिके तीर्थ थे। (बौद्धलोग अपने और जैनधर्मके अतिरिक्त शेष भारतीय धर्मवालोंको तीर्थ कहते थे।) उनका नाम परिव्राजक कुरुनन्द था। धर्मकीर्ति बाल्यावस्थासे ही बड़े बुद्धिमान् और प्रतिभाशाली थे। अतएव ये शीघ्र ही वेद, वेदाङ्ग, वैद्यक, व्याकरण आदि तीर्थों के सभी सिद्धान्तोंमें दक्ष हो गये। १६ या १८ वर्षकी अवस्थामें ही ये तीर्थोंके दर्शनशास्त्रके अच्छे विद्वान् पण्डित हो गये । ये प्रायः बौद्धधर्मके व्याख्यान भी सुना करते थे अन्तमें इनको विश्वास हो गया कि बौद्ध सिद्धान्त बिलकुल निर्दोष है । अब ये पूर्णरूपसे बौद्ध धर्मकी ओर झुकने लगे। इन्होंने अपना वेष बौद्ध उपासकों का सा बनाया । जब ब्राह्मणोंने इनसे इसका कारण पूछा तो इन्होंने बौद्धधर्मकी प्रशंसा की । ये इसी बात पर जातिच्युत कर दिये गये। इसके पश्चात् ये मध्यदेशमें आये । (यद्यपि तिब्बतदेशीय साहित्यमें मध्यदेश मगध को कहा है परन्तु मनुजी ने उत्तरमें हिमालय, दक्षिणमें विन्ध्याचल, पूर्वमें प्रयाग और पश्चिममें सरस्वती ही के बीचके देशको मध्यदेश कहा है। जैसा कि कहा है—'हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत् प्राग् विनशादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ मनु० ॥ २ ॥ २१ ॥') यहां इनको आचार्य धर्मपालने संघमें प्रविष्ट कर लिया । इन्होंने यहाँ त्रिपिटकोंका अध्ययन किया । अब इनको ५०० सूत्रधारणी कण्ठ याद हो गईं ।

धर्मकीर्ति और कुमारिल ।

ये तीर्थमतके गुप्त सिद्धान्तोंके जानने की अभिलाषासे दासोंका सा वेष बनाकर दक्षिण की ओर गये । यहाँ इनको पूछनेसे विदित हुआ कि ब्राह्मण कुमारिल उक्त विषयके अद्वितीय विद्वान् थे । भारतीय ग्रन्थ कुमारिलके धर्मकीर्तिका चाचा होने की किम्वदन्ती का समर्थन नहीं करते । कुमारिलके पास राजा की दी हुई बड़ी भारी सम्पत्ति थी। इनके पास बहुतसे चावलोंके खेत, ५०० दास, ५०० दासियां और कई सौ आदमी थे। जब धर्मकीर्तिने उनके यहां सेवाकार्यमें प्रवेश पाकर बाहर और भीतर के ५० दासोंका काम संभाल लिया तो कुमारिल और उनकी स्त्री सन्तुष्ट हो गये । अब धर्मकीर्ति को गुप्त सिद्धान्तोंके सुननेकी आज्ञा मिल गई । धर्मकीर्तिने कुमारिलसे गुप्तशिक्षाका ज्ञान प्राप्त करके उनका घर छोड़ दिया। कुमारिलसे उसको अपनी विशेष सेवाके बदलेमें कुछ धन भी मिला था, जिससे उसने अपनी यात्राकी रात्रिमें ब्राह्मणों को एक बड़ा भोज दिया।

अब उसने कणादके मत वाले कणादगुप्त और तीर्थमतके अन्य अनुयायियों को शास्त्रार्थके लिए आह्वान किया और उनसे शास्त्रार्थ करने लगा । शास्त्रार्थ बराबर तीन मास तक होता रहा, जिसमें उसने अपने सभी विपक्षियों को पराजित कर दिया और उनमेंसे बहुतोंको बौद्ध बना लिया। इसपर कुमारिलको बड़ा क्रोध आया । वह ५०० ब्राह्मणोंको लेकर शास्त्रार्थके लिये अग्रसर हुए । कुमारिलने प्रस्ताव किया कि शास्त्रार्थमें जो पराजित हो वह मार डाला जावे । किन्तु धर्मकीर्तिने जो कुमारिलकी

मृत्यु नहीं चाहता था, आग्रह किया कि पराजित व्यक्ति विजेताके धर्मको स्वीकार कर ले। इस प्रकार धर्मको पारितोषिकके रूपमें रखकर दोनों शास्त्रार्थमें भिड़ गये। किन्तु विजयश्री अन्तमें धर्मकीर्तिके ही हाथ रही। कुमारिल और इसके ५०० अनुगामी बौद्ध हो गये।

उसकी दिग्विजय।

धर्मकीर्तिने इसके पश्चात् निर्ग्रन्थ (दिगम्बर जैनी) रघुव्रतिन् और दूसरोंपर जो विन्ध्याचलमें रहते थे विजय पायी। उसने द्रवली (द्राविड) को लौटते हुए घोषणा करादी कि जो तैयार हो आकर शास्त्रार्थ करे। तीर्थ लोगोंकी अधिकांश संख्या भाग गयी और कुछने बिलकुल स्वीकार कर लिया कि उस युद्धमें उनके समान नहीं थे। उसने उस देशकी उन सब धार्मिक संस्थाओंका जो अवनत दशामें पड़ी हुई थीं, उद्धार किया और फिर वह गहन वनमें जाकर एकान्त सेवन और ध्यान करने लगा।

धर्मकीर्तिने अपने जीवनकी समाप्तिके दिनोंमें कलिङ्ग देशमें एक विहार बनवाया और बहुतसे लोगोंको अपने धर्ममें दीक्षित कर परलोकवासी हुआ। उसके वह शिष्य जिनकी आत्मा ब्रह्मके समान हो गयी थी उसको दाहसंस्कारके लिये श्मशानभूमिमें ले गये। वहाँ एक पुष्पोंकी भारी वृष्टि हुई और सात दिन तक सारा देश सुगन्ध और रागोंसे भरा रहा।

ये आचार्य (धर्मकीर्ति) और तिब्बतका राजा स्रोतसंगम्पो समकालीन कहे जाते हैं, जो कि प्रमाण रूपमें माना जा सकता है।

धर्मकीर्तिका समय।

इस कथनमें यह स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति धर्मपालका शिष्य था। धर्मपाल ६३५ ई० में जीवित था (जैसा कि हुएन्त्सांगके लेखोंसे स्पष्ट है) अतएव धर्मकीर्ति भी उस समयके लगभग अवश्य रहा होगा। यह समय धर्मकीर्तिके राजा स्रोतसंगम्पो का समकालीन होनेके भी अविरुद्ध है, जो ६२७-६९८ तक जीवित रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि ६३५ ई० में धर्मकीर्ति बहुत छोटा था, क्योंकि हुएन्त्सांगने उसका नाम नहीं लिया है। इसके विरुद्ध इत्सिंग, जिसने भारतमें ६७१-६९५ ई० तक यात्राकी दिङ्नागके पश्चात् 'धर्मकीर्तिने न्यायमें आगे कैसे उन्नति की' का वर्णन प्रभावपूर्ण शब्दोंमें करता है। धर्मकीर्तिने ब्राह्मण नैयायिक उद्योतकर पर आक्षेप किया है। इसके विरुद्ध बृहदारण्यकवार्तिकके रचयिता मीमांसक सुरेश्वराचार्य और अष्टसहस्रीके रचयिता दिगम्बर जैन विद्यानन्दिने धर्मकीर्तिकृत प्रत्यक्षके लक्षणकी समालोचना की है। धर्मकीर्ति अन्य ग्रन्थोंमें केवल कीर्ति भी कहा गया है। वाचस्पति मिश्रने भी धर्मकीर्तिकी समालोचना करनेके लिये उनका नाम लिया है।

धर्मकीर्तिकी रचनायें।

धर्मकीर्तिने निम्नलिखित ग्रन्थ बनाये—

१. प्रमाणवार्तिककारिका—यह ग्रन्थ मूल संस्कृतमें तो लुप्त है। किन्तु इसका तिब्बी भाषामें अनुवाद मिलता है। इस ग्रन्थके बनाये जानेकी कथा भी बड़ी रोचक है। कहते हैं कि एक दिन धर्मकीर्ति दिङ्नागके शिष्य ईश्वरसेनके यहां गये। वहां इन्होंने दिङ्नागका प्रमाणसमुच्चय सुना। धर्मकीर्ति उसको प्रथम वार सुननेसे ईश्वरसेनके समान उस ग्रन्थके विद्वान् बन गये उन्होंने उसको दोबारा फिर सुना इस वार वह दिङ्नागके समान बन गये। और तीसरी वार सुननेपर उन्होंने उसमेंकी कई गलतियां निकालीं। उन्होंने वे अशुद्धियां ईश्वरसेनको बतलायीं। जिसने गुरुनिन्दापर अप्रसन्न होनेके स्थानमें उनसे एक समालोचनात्मक टीका बनानेको कहा। उसी परिश्रमका फल स्वरूप यह ग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय हैं—जिनमेंसे प्रथममें स्वार्थानुमान, द्वितीयमें प्रमाणसिद्धि, तृतीयमें प्रत्यक्ष और चतुर्थमें परार्थवाक्य का वर्णन है।

२. प्रमाणवार्तिकवृत्ति—यह प्रमाणवार्तिककारिकाकी टीका है। इसका भी मूल लुप्त होकर तिब्बी अनुवाद ही शेष है।

३. प्रमाणविनिश्चय—इसमें न्यायबिन्दुके ही समान प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान नामके तीन परिच्छेद हैं। इसका भी सम्भवतः मूल लुप्त और तिब्बी अनुवाद ही शेष है।

४. न्यायबिन्दु—यह ग्रन्थ पाठकोंके सामने है। इसका वर्णन आगे किया जावेगा।

५. हेतुबिन्दुविवरण—इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें क्रमसे स्वभावहेतु, कार्यहेतु, और अनुपलब्धिहेतु का वर्णन किया गया है।

६. तर्कन्याय या वादन्याय—मूल इसका भी सम्भवतः लुप्त ही है।

७. सन्तानान्तरसिद्धि—

८. सम्बन्धपरीक्षा—और

९. सम्बन्धपरीक्षा वृत्ति—यह सम्बन्धपरीक्षाकी टीका है।

(४) धर्मकीर्तिका संप्रदाय।

यद्यपि धर्मकीर्तिके विषयमें ऊपर (इस छोटी-सी भूमिकामें) कम नहीं लिखा गया तथापि उसके सम्प्रदायको जाने बिना यह विषय अधूरा ही रह जाता है। इस विषयमें सब एक मत हैं कि वह माध्यमिक नहीं था क्योंकि माध्यमिक दर्शन शून्यवाद है और धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंमें स्थान २ पर अनेक पदार्थ देखनेमें आते हैं। अतएव माध्यमिक न होनेसे वह या तो बाह्यार्थास्तित्ववादी (सौत्रान्तिक और वैभाषिक) ही हो सकता है या विज्ञानाद्वैतवादी (योगाचार) ही हो सकता है। अतएव अब हम इसीपर विचार करेंगे कि वह इन दोनोंमेंसे किस मतका अनुयायी था।

यह पीछे दिखलाया जा चुका है कि धर्मकीर्ति धर्मपालका शिष्य था और यह भी बतला दिया गया है कि धर्मपाल योगाचार (विज्ञानाद्वैतवाद) मतावलम्बी था। अतएव जो मत गुरुका हो वही शिष्यका भी होना चाहिये। किन्तु न्यायबिन्दुमें स्थान स्थान पर ऐसे वाक्य आये हैं जिनसे बाह्य अर्थका अस्तित्व स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरणके लिये ऐसे कुछ वाक्य दिये जाते हैं—

'इन्द्रियज्ञानम्' पृ० १२

'स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्' पृ० १३

'सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्' पृ० १४

'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति' पृ० १४ इत्यादि २।

न्यायबिन्दुके इस प्रकारके वाक्य ही इस प्रश्नको उपस्थित करते हैं कि वह बाह्यार्थास्तित्ववादी था या विज्ञानाद्वैतवादी ? क्योंकि यद्यपि योगाचार बाह्य अर्थको नहीं मानता तथापि उपचारसे उसको वह भी मानता ही है। यदि हम धर्मकीर्तिको विज्ञानाद्वैतवादी मान लें तो न्यायबिन्दुके बाह्यार्थास्तित्ववाचक शब्दोंको औपचारिक मानना पड़ेगा। किन्तु उन वाक्योंके ढंगसे ऐसा प्रतीत नहीं होता। यदि उक्त वाक्य औपचारिक होते तो उनमेंसे किसीमें तो उपचारवाचक शब्द अवश्य ही होता किन्तु ऐसा कोई शब्द न्यायबिन्दुमें उपलब्ध नहीं है। अतएव धर्मकीर्तिको विज्ञानाद्वैतवादी मानना युक्तिसंगत नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि धर्मकीर्ति पहिले तीर्थमतका था। उसके दिग्विजयसे प्रतीत होता है कि उसका मनन वैशेषिक आदि मतोंका विशेष था। वेदान्तियोंसे उसकी किसी भी भिड़न्तका पता नहीं चलता है। अतएव बौद्ध होनेसे पूर्व वह बाह्य और आन्तर दोनों प्रकारके पदार्थके अस्तित्वको माननेवाले किसी दर्शनका अनुगामी होगा। सो दोनोंके अस्तित्वको माननेवालेकी दूसरी सीढ़ी एकको ही मानना या न मानना हो सकती है और वह सीढ़ी बाह्यार्थास्तित्ववाद है। अतएव धर्मकीर्त्ति बाह्यार्थास्तित्ववादी था।

तीसरी बात यह भी है कि नैयायिक प्रायः कमसे कम बाह्य अर्थको माननेवाले होते हैं। जैन यद्यपि बाह्य और आन्तर दोनों अर्थको मानते हैं तथापि शास्त्रार्थकी झंझटोंको दूर करने और विपक्षीको आक्षेपका मौका न देनेके लिये ही उनको मतिज्ञानरूप परोक्षज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना पड़ा है। अतएव ऐसी दशामें यह आशा नहीं की जा सकती कि बौद्ध न्यायका उद्धार कर्ता धर्मकीर्ति बाह्य अर्थतकका स्पष्ट रूपसे अस्तित्व न मानता होगा।

(५) धर्मकीर्तिका बौद्ध न्यायमें स्थान।

धर्मकीर्तिके बौद्धन्यायमें स्थानको लिखनेसे पूर्व यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धर्मकीर्तिका बौद्ध दर्शनमें क्या स्थान है ? किन्तु उसके बनाये हुए किसी भी दार्शनिक

ग्रन्थके सामने न होनेसे हम इस विषयपर लिखनेमें असमर्थ हैं। क्योंकि केवल न्यायके ग्रन्थके आधारपर दार्शनिक विषयकी समालोचना करना हम योग्य नहीं समझते।

यह पीछे प्रगट किया जा चुका है कि आचार्य दिङ्नाग आधुनिक बौद्ध न्यायके जन्मदाता थे। किन्तु गौतम न्यायसूत्रके वात्स्यायन भाष्यकी टीका न्यायवार्तिकके रचयिता उद्योतकरने अपने ग्रन्थ में उनकी खूब समालोचना की है। उस समय इस समालोचनासे ब्राह्मणोंका प्रभाव बहुत कुछ बढ़ गया और बौद्धोंका घट गया। दिङ्नागसे धर्मकीर्ति तकके बीचमें कोई भी ऐसा बौद्ध नैयायिक नहीं हुआ जो उस उखड़ी हुई प्रतिष्ठाको जमाता। किन्तु धर्मकीर्तिने स्थान २ पर शास्त्रार्थ करके बौद्ध-मतका इतना प्रचार किया कि उसके पीछेके प्रायः सभी दर्शनोंके न्यायवालोंने उसकी समालोचना करनेमें ही अपना गौरव समझा। इन्होंने न्यायवार्तिककी भी समालोचना खूब की थी। इनके पश्चात् बौद्ध नैयायिकोंमें ऐसा दमदार कोई नैयायिक नहीं हुआ। इसलिये जबकि हम दिङ्नागको आधुनिक न्यायका जन्मदाता कहते हैं तो धर्मकीर्तिको बौद्धन्यायका उद्धारक कहना बहुत योग्य होगा।

(६) धर्मकीर्तिकृत दिङ्नागका खण्डन।

प्रमाणवार्तिककारिकाके बननेके वर्णनमें कहा जा चुका है कि धर्मकीर्तिने दिङ्नागके ग्रन्थमें उसकी गलतियां पकड़ीं। यद्यपि हमारे सामने प्रमाणवार्तिककारिका उपस्थित नहीं है तथापि न्यायबिन्दु टीकासे दिङ्नागसे धर्मकीर्तिका मतभेद स्पष्ट प्रगट हो जाता है। यद्यपि डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने इस विषयपर भी काफी लिखा है किन्तु इस स्थलपर उस विषयमें न लिखना भी अनुचित होगा अतएव हम यहां पर वही विषय डाक्टर साहिबसे अभिन्न सम्मति रखते हुए लिखते हैं—

इष्टविघातकृत् विरुद्ध।

हेतुके साध्यके विरुद्ध होनेको दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनोंने ही हेत्वाभास माना है। किन्तु दिङ्नागने अपने न्यायप्रवेशमें हेतुके अभिलषित (Implied) साध्यके (जिस समय साध्य अनिश्चित अथवा संदिग्ध हो) विपरीत होनेको पृथक् हेत्वाभास माना है, जिसको उन्होंने इष्टविघातकृत् विरुद्ध नाम दिया है। किन्तु धर्मकीर्तिने अपने ग्रन्थ न्यायबिन्दुमें इस सम्मतिको यह कह कर अग्राह्य माना है कि दूसरा विरुद्ध हेत्वाभास प्रथममें ही गर्भित हो जाता है। (*तत्र च तृतीयोऽपि इष्टविघात-कृत् विरुद्धः ?···स इह कस्मान्नोक्तः। अनयोरेव अन्तर्भावात्।* अयं च विरुद्धः आचार्यदिङ्नागेनोक्तः। स कस्मात् वार्तिककारेण सता त्वया नोक्तः। न्या० पृष्ठ ७९, ८०भाषा पृ० २२) इष्टविघातकृत् विरुद्धका एक उदाहरण दिया जाता है—

नेत्र आदि दूसरेके उपयोगके लिये हैं। क्योंकि वह संघातरूप हैं। जैसे-शयन, आसन आदि।

यहाँ साध्य दूसरेके लिये अनिश्चित या संदिग्ध है। क्योंकि वह संघात

(उदाहरणके लिये शरीर) और असंघात (उदाहरणके लिये जीव) दोनोंको ही बतला सकता है। यदि वक्ता 'दूसरेके लिये' शब्दको असंघात अर्थमें प्रयोग करे जिसको श्रोता संघात अर्थमें समझ जावे तो उस समय साध्य हेतुके विरुद्ध हो जावेगा। उस समय वह हेतु इष्टविघातकृत् विरुद्ध कहलाता है।

धर्मकीर्तिने अपने ग्रन्थ न्यायबिन्दुमें इसको पहिले विरुद्धका ही उदाहरण माना है। क्योंकि अनुमान वाक्यमें प्रयोग किये हुए साध्यवाचक शब्दका एक ही अर्थ हो सकता है। और यदि कहे हुए और समझे हुए अर्थोंमें सन्देह हो तो प्रकरणसे पहिले वास्तविक अर्थ निश्चय कर लेना चाहिये। यदि प्रयोग किया हुआ अर्थ वास्तविक होगा तो सा य और हेतुमें स्वाभाविक विरोध होगा।

विरुद्धव्यभिचारी।

दिङ्नागने एक और हेत्वाभास 'विरुद्धाव्यभिचारी' भी माना है, जिसको उसने सन्देहका कारण कहा है। यह ऐसे स्थानपर होता है जब दो विरुद्ध परिणाम एक ही हेतु (Valid truth reason) से पुष्ट किये जाते हैं।

उदाहरणके लिये-एक वैशेषिक दार्शनिक कहता है—

शब्द अनित्य है क्योंकि वह उत्पन्न होता है।

एक मीमांसक उत्तर देता है—

शब्द नित्य है क्योंकि वह श्रव्य (सुनने योग्य) है।

उपरोक्त मामलों में काममें लाये हुए दोनों हेतु क्रमसे वैशेषिक और मीमांसाके सिद्धान्तके पुष्ट करनेके कारण उन २ दर्शनकारों द्वारा ठीक माने जाते हैं। किन्तु दो विरुद्ध परिणामोंपर लेजानेसे वह अनिश्चित है। और इसीलिये वह हेत्वाभास है।

धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभासका निषेध (न्या० पृ० ८६-८८ भाषा० पृ० २४-२५) किया है। इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि यह न तो अनुमानके विषयमें ही उठता है और न शास्त्र ही इसका आधार है। हेतुका साध्यमें स्वभाव, कार्य या अनुपलब्धि रूपमें रहना आवश्यक है और उसके द्वारा ठीक परिणाम निकलना चाहिये।

परस्परविरोधी दो परिणाम ऐसे हेतुओंसे पुष्ट नहीं हो सकते जो ठीक (Valid) हैं। परस्पर विरुद्ध दो परिणामोंके सिद्ध करने में दो शास्त्र उसी प्रकार सहायता नहीं कर सकते जिस प्रकार एक शास्त्र प्रत्यक्ष और अनुमानको पुष्ट नहीं कर सकता और वह केवल बुद्धिके न पहुँचने योग्य विषयोंमें ही प्रमाण होता है। इसलिये विरुद्धाव्यभिचारी असंभव है।

दृष्टान्तका कार्य।

दिङ्नागके विरोधमें धर्मकीर्ति (त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैव अर्थप्रतीतिरिति न पृथग् दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेनास्य लक्षणं पृथग् [न] उच्यते गतार्थत्वात्। (न्या० पृ० ९१ भाषा० पृ० २६) सम्भवतः 'न' भूलसे छूट गया है।

तिब्बी अनुवादमें 'न' मिलता है।) कहता है कि 'दृष्टान्त' नामका कोई साधनका अवयव नहीं है। क्योंकि इसका हेतुमें अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे—

पर्वतमें अग्नि है क्योंकि वहाँ धूम है। जैसे पाकशाला में।

इस वाक्यमें दृष्टान्त पाकशाला और उसी प्रकारकी अन्य वस्तुएं हेतु में ही आजाती हैं। अतएव 'दृष्टान्त' पाकशालाको पृथग् कहना व्यर्थ है। धर्मकीर्ति कहता है कि इतना होने पर भी दृष्टान्त का यह मूल्य है ही (................ उक्तम् अभेदेन...पुनर्विशेषेण दर्शनीयावुक्तौ) कि यह हेतुके द्वारा साधारण रूपसे कथन लिये हुए को विशेषरूपसे बतला देता है। इस प्रकार साधारण कथन 'सब धूम वाली वस्तु अग्नि वाली होती हैं' को विशेष दृष्टान्त पाकशाला ने अधिक जोरदार बना दिया जो कि धूम वाली भी है और अग्नि वाली भी है।

(७) न्यायबिन्दु तथा उसका न्याय।

इस बातको प्रमाणित करने की अब कोई अवश्यकता नहीं रह गई है कि प्राचीन कालमें सब दर्शनकारोंने अपनी २ प्रमाण व्यवस्था पृथक् ही खड़ी की थी। यद्यपि यह आवश्यक नहीं था कि उन सबकी व्यवस्थाएं एक दूसरेसे भिन्न ही हों तथापि अपनी मानी हुई वस्तुके स्वरूपको बतलाने तथा अपनी युक्तियोंको सिद्ध करनेके लिये पृथक् ही प्रमाणको आवश्यकता थी। जहां दर्शन पदार्थोंका वर्णन करता है वहां न्याय उन पदार्थोंको सिद्ध करने वाली युक्तियोंका वर्णन करता है। इस प्रकार दर्शन और न्याय दोनों सापेक्ष हैं। प्रमाण सामान्यका लक्षण तो एक प्रकारसे विशुद्ध दार्शनिक विषय है अतएव इस पर हम पृथक् विचार करेंगे।

यह पीछे प्रमाणित किया जा चुका है कि यद्यपि बौद्धन्याय गौतमके न्यायदर्शन-के पीछे बना है तथापि भारतके दार्शनिकोंको विशुद्ध न्यायके ही ग्रन्थोंको लिखनेका मार्ग बौद्ध नैयायिकोंने ही दिखलाया है। गौतमीय न्याय अथवा प्राचीन न्याय, दर्शन और न्यायका मिला हुआ ग्रन्थ है। किन्तु बौद्धोंने अपने न्यायग्रन्थोंकी स्वतन्त्र रचना करके उस समय भारतपर अपना सिक्का जमा लिया। ब्राह्मणोंके पास तो पहिलेसे ही न्याय दर्शन था। अतएव उन्होंने उसकी ही टीका प्रटीकाओं तथा उसी ढंगके अन्य ग्रन्थोंपर ही भरोसा रखा, किन्तु जैन नैयायिकोंसे यह सहन न हुआ। अस्तु, उन्होंने भी बौद्धोंके समान न्यायके ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने आरम्भ किये। भारतका मध्यकालीन दार्शनिक इतिहास जैन और बौद्ध धर्मोंके ही शास्त्रार्थोंसे भरा पड़ा है। धीरे २ कालयोगसे ब्राह्मणोंका फिर प्राबल्य हुआ। उस समय अपनी कुछ आन्तरिक निर्बलताओं तथा कुछ जैन और ब्राह्मणोंके धक्केसे बौद्ध धर्मपर तो ऐसा आघात पहुंचा कि वह भारतसे अदृश्य ही हो गया। किन्तु जैन धर्म किसी प्रकार सबकी चोटें सहता हुआ अभी तक भारतवर्षमें फैल ही रहा है। मिथला तथा नवद्वीपके नैयायिकोंने अभी लगभग छः सौ वर्ष पूर्व प्राचीन न्यायका परिष्कार करके एक नव्य न्याय खड़ा किया है किन्तु यह प्राचीन न्यायका ही रूपान्तर है। अतएव मुख्य न्याय

तीन ही हैं। गौतमीय न्याय, जैन न्याय और बौद्धन्याय। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि अन्य दर्शनकारोंने न्यायपर कुछ लिखा ही नहीं। क्योंकि उनके ग्रन्थोंमें भी न्यायके बहुतसे अङ्गोंपर बहुत कुछ प्रकाश मिलता है।

आचार्य धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुको तीन परिच्छेदोंमें विभक्त किया है। जिनमेंसे प्रथम परिच्छेदमें प्रत्यक्ष, द्वितीयमें स्वार्थानुमान और तृतीयमें परार्थानुमानका वर्णन है। आचार्य धर्मोत्तरने इसी क्रमका अनुसरण करते हुए इसके ऊपर एक विस्तृत टीका बनाई है जो कि पाठकोंके हाथमें है।

यद्यपि यह टीका बहुत अच्छी है और इसमें प्रत्येक बातको भलीप्रकार समझाया गया है तथापि यह टीका अपने असली रूपमें केवल उन्हींके कामकी रह गई है जो बौद्ध दर्शनके विद्वान् हैं। क्योंकि यदि गौतमीय और जैन न्यायके कोई विद्वान् बिना बौद्ध दर्शनका अभ्यास किये इसको स्वयं पढना चाहें तो उनके लिये भी इसका पढ़ना बहुत कष्ट साध्य है। क्योंकि इसमें कुछ ऐसे बौद्ध परिभाषिक शब्द आगये हैं जिनका अर्थ लाख प्रयत्न करनेपर भी विना बतलाये हुए समझमें नहीं आ सकता। हमने इस त्रुटिको यथाशक्ति अपनी संस्कृत टिप्पणी और भाषाटीकामें दूर करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु यह कहना कठिन है कि हम इस प्रयत्नमें कहाँ तक सफल हुए हैं।

अब हमको यह देखना है कि न्यायबिन्दुके पृथक् २ परिच्छेदोंमें क्या कहा गया है—

प्रथम परिच्छेद।

हम पीछे कह आये है कि प्रमाण सामान्य एक दार्शनिक विषय है। अतएव प्रथम यहाँ उसीके लक्षणपर विचार किया जाता है—

सांख्यदर्शनमें कहा है—

'द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्।' अध्याय १ सूत्र ८७।

अर्थात् असन्निकृष्ट (प्रमातामें अप्राप्त) अर्थका निश्चय करना प्रमा है। वह प्रमा चाहे बुद्धि और पुरुष दोनों का धर्म हो, अथवा बुद्धिका ही धर्म हो; अथवा पुरुषका ही धर्म हो। जो उस प्रमाका साधकतम (फलका एकमात्र और अभिन्न कारण) हो वह प्रमाण होता है। वह तीन प्रकारका है।

यहां यदि प्रमारूप फलको पुरुषमें रहनेवाला माना जावे तो बुद्धिवृत्ति प्रमाण होगा। क्योंकि पुरुषजन्य प्रमा बुद्धिवृत्तिसे ही हो सकती है अन्यसे नहीं हो सकती। अथवा यदि प्रमारूप फलको बुद्धिमें ही रहने वाला माना जावे (क्योंकि पुरुष तो ज्ञानसे बिलकुल पृथक् है) तो इन्द्रियवृत्ति सन्निकर्ष आदि ही प्रमाण होंगे। क्योंकि पुरुष तो प्रमाका साक्षी है उसको प्रमाता कहनेमें उसमें कर्तृत्वका आरोप करना पड़ेगा अथवा यदि पौरुषेय बोध और बुद्धिवृत्ति दोनोंको ही प्रमा कहा जावेगा तो उक्त दोनोंको ही प्रमाण मानना पड़ेगा।

योगदर्शनके पातञ्जल भाष्यमें प्रथम मतको ही स्वीकार किया गया है। किन्तु सांख्यका प्राचीन मत उपरोक्त मतोंमेंसे दूसरा प्रतीत होता है। इस प्रकार सांख्य तथा योगदर्शनका प्रमाण अस्वसंवित और अचेतन है।

प्रमाणका लक्षण न्यायदर्शन या वात्स्यायनभाष्य किसीमें भी नहीं मिलता। न्याय-भाष्यकी टीका न्यायवार्तिकमें निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं—

इन्द्रियं खलु अर्थप्रकाशकत्वात् प्रमाणं..........उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्।... प्रमाणोत्पत्ताविन्द्रियार्थसन्निकर्षमपेक्षमाणाभ्यां प्रमातृप्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यते।

अर्थात् अर्थके प्रकाशक होने से इन्द्रिय ही प्रमाण है। क्योंकि उपलब्धिका हेतु प्रमाण होता है। और प्रमाणकी उत्पत्तिमें इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षकी अपेक्षा करनेवाले प्रमाता और प्रमेय ज्ञानके जनक होते हैं।

किन्तु अन्य ग्रन्थोंको परिशीलन करनेसे पता चलता है नैयायिक मतमें भी सन्निकर्षको ही प्रमाण माना है।

वैशेषिक दर्शनके प्रशस्तपाद भाष्यमें लिखा है—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः।.........तस्या सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे विद्या चाविद्या चेति।.........विद्यापि चतुर्विधा। प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा।

अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय ये सब ही एकार्थवाची हैं। उसके (बुद्धिके) अनेक भेद होने पर भी संक्षेपसे दो भेद हैं। विद्या और अविद्या। विद्याके भी चार भेद हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्ष।

इससे प्रतीत होता है कि वैशेषिकोंके विद्या और प्रमाण भिन्न २ नहीं हैं। अतएव वैशेषिक दर्शनके अनुसार प्रमाण ज्ञान है।

मीमांसामें मुख्य रूपसे दो आचार्योंके मत लिये जाते हैं। कुमारिलभट्ट और प्रभाकरके—

कुमारिलने प्रमाणका यह लक्षण किया है—

'अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्' अर्थात् जो न जाने हुए और तथाभूत (वास्तविक) अर्थको निश्चय करावे वह प्रमाण है। यह एक प्रकारका 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' ही हुआ।

प्रभाकरका प्रमाणका लक्षण यह है—

'अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि प्रमाणम्' अथवा 'अनुभूतिः प्रमाणम्'।

अर्थात् अर्थके वास्तविक रूपको प्रकाशित करने वाला ज्ञाताका अज्ञानरूप अनुभव व्यापार प्रमाण है अथवा अनुभूति या अनुभव ही प्रमाण है। यहाँ भी प्रमाण ज्ञान रूप है—

जैनियोंके न्यायके प्रसिद्ध ग्रन्थ परीक्षा मुखमें प्रमाणका यह लक्षण किया गया है—'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'।

अर्थात् अपने और अपूर्व अर्थको निश्चय करानेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। इसमें भी ज्ञानको ही प्रमाण कहा है।

अब अन्तमें देखना चाहिये कि बौद्ध दर्शनमें इस विषयमें क्या कहा है। न्याय-विन्दु मूलमें प्रमाणके स्थानपर प्रायः सम्यग्ज्ञान शब्दका प्रयोग मिलता है। सम्यग्ज्ञानके विषयमें टीकामें लिखा है—

'अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्'। न्याय वि० पृ० ४ पं० ६

जो पहिले से जाने हुए पदार्थमें प्रवृत्ति करता है उसे लोकमें संवादक कहते हैं। ज्ञानके विषयमें भी यही बात घटती है क्योंकि ज्ञान भी उसी प्रकार स्वयं दिखलाये हुए अर्थमें प्रवृत्ति करता हुआ संवादक कहा जाता है। अतएव अविदित अर्थको बतलाने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जैसा कि कहा है—

'अनधिगतविषयं प्रमाणम्।' न्याय वि० पृ० ४ पं० १२

अर्थात् प्रमाण अविदित विषय वाला है।

बौद्धोंने प्रमाण और ज्ञानको दो पदार्थ न मानकर एक ही माना है। जैसा कि जैनियोंने भी किया है। ज्ञानमें 'सम्यक्' विशेषणसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानोंको स्पष्टतया प्रमाणपनेका निषेध किया है। 'अविसंवादक' अथवा 'अनधिगत-विषय' से भट्टद्वारा स्वीकार किये हुए धारावाहिक ज्ञानमें प्रामाण्यका निषेध किया है।

बौद्धोंकी प्रमाणसंख्या यद्यपि और सबोंसे तो भिन्न है किन्तु वैशेषिकोंके समान ही है। उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण माने हैं। (न्यायबिन्दु पृ० ७ भाषाटीका पृ० १) अन्तर दोनोंमें केवल इतना ही है कि वैशेषिक तो उपमान और अर्थापत्ति आदिका अनुमान में अन्तर्भाव कर लेता है किन्तु बौद्ध कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि हेतु जनित ज्ञानको ही अनुमान मानता है। अतएव बौद्ध अनुमानमें उनका पूर्ण अन्तर्भाव नहीं है।

बौद्धोंका प्रत्यक्ष जितना विचित्र है उतना ही उसको समझना भी कठिन है। वैदिक दर्शनकारोंने इन्द्रियों और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुए ज्ञानको प्रत्यक्ष माना है। जैनियोंका प्रत्यक्ष भी यद्यपि विचित्र ही है किन्तु उसका समझना उतना कठिन नहीं है। जैनियोंने प्रत्यक्षके दो भेद किये हैं—एक इन्द्रियप्रत्यक्ष (अथवा सांव्यव-हारिक प्रत्यक्ष) दूसरा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (अथवा पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष)। जैनियोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष लगभग वैदिक दर्शनकारोंके ही जैसा है किन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष एक प्रकार का योगिज्ञान है, जो केवल आत्मिक शक्तिसे आत्मामें ही होता है। बौद्ध लोग कल्पना रहित और निर्भ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। (न्या० पृ० ८ भा० पृ० १) कल्पना रहितको प्रत्यक्ष कहनेका कारण यह है कि कल्पना अर्थकी उपस्थितिकी अपेक्षा नहीं रखती किन्तु बौद्ध प्रत्यक्ष अर्थके सान्निध्यमें ही हो सकता है। अन्य अवस्थाओंमें नहीं हो सकता (न्या० पृ० १०, ११)

इन्होंने प्रत्यक्षके चार भेद माने हैं—

इन्द्रियप्रत्यक्ष, मनःप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष, जो ज्ञान इन्द्रियोंके आश्रित होता है उसे इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। (न्या० पृ० १२ भा० पृ० २) इन्द्रियविज्ञान (इन्द्रियप्रत्यक्ष) के दूसरे क्षणमें जब कि इन्द्रियज्ञान समनन्तरप्रत्यय (भा० पृ० २ पं० ७) हो गया हो, जो ज्ञान होता है वह मनोविज्ञान या मनःप्रत्यक्ष कहलाता है। (पृ० १२, १३, १४ भा० पृ० २) इसमें और इन्द्रिय विज्ञानमें अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें आलम्बन प्रत्यय (भा० पृ० २ पं० १०) इन्द्रिय विज्ञान होता है और इन्द्रियविज्ञानमें आलम्बन प्रत्यय घट पट आदि पदार्थ होते हैं।

यद्यपि बौद्ध दर्शनमें आत्मा या जीव नामका कोई पदार्थ नहीं है तथापि सुख दुःख आदिमें 'मैं सुखको भोगता हूँ' अथवा 'मैं दुःखको भोगता हूँ' आदि प्रत्यय होते ही हैं। इस अनुभवको ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष या आत्मसंवेदन कहते हैं।

योगिप्रत्यक्ष स्पष्ट ही है वह योगियोंको ही होता है।

प्रत्यक्षका विषय भी एकक्षणवर्ती पदार्थ है। किन्तु अनुमानका विषय सामान्य लक्षण है। अर्थात् अनुमानके द्वारा अनेक क्षणोंकी बातको भी जान सकते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाणका फल प्रत्यक्ष ज्ञान है और ज्ञानका पदार्थके समान बन जाना ही प्रमाण है। क्योंकि उसीसे पदार्थका ज्ञान होता है। (न्या० पृ० १६ की न० ३ की टिप्पणी)

द्वितीय परिच्छेद।

आचार्य धर्मकीर्तिने जिस प्रकार प्रथम परिच्छेदमें प्रमाणका लक्षण किये बिना ही उसके भेद कर डाले हैं उसी प्रकार यहाँ भी अनुमानका लक्षण किये बिना ही पहिले अनुमानके स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दो भेद किये हैं। हमारा अनुमान है कि यह बात धर्मोत्तराचार्य को भी अवश्य खटकी थी किन्तु प्रथम परिच्छेद में उन्होंने इसको प्रगट न करते हुए स्वयं ही प्रमाणका लक्षण कह दिया है। क्योंकि उसमें लक्षण कहनेके लिये भेदवाले वाक्यसे पहिले एक और भी वाक्य था। किन्तु इस परिच्छेदमें पहिले ही वाक्यसे भेद चल पड़े। यहाँ टीकाकारको अपनी खटक शंकाके रूपमें प्रगट करनी ही पड़ी (न्या० पृ० २१ पं० ४) किन्तु आगे चलकर उन्होंने इसका स्वयं ही समाधान किया है कि भेदका कहना ही लक्षणका कहना है। क्योंकि दोनोंके लक्षण बिलकुल पृथक् २ होनेसे उनका एक लक्षण सम्भव नहीं है। (न्या० पृ० २१ पं० ५) किन्तु युक्तिपूर्वक विचार करनेसे धर्मोत्तराचार्य की यह दलील कमजोर बैठती है। क्योंकि उन दोनोंके अत्यन्त पृथक् होते हुए भी अनुमानकी अपेक्षा तो उनमें एकता ही है। आचार्य धर्मकीर्ति ने दोनों अनुमानोंके ये लक्षण किये हैं—

'तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्'। न्यायबिन्दु पृ० २१ 'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्' न्यायबिन्दु पृ० ४६।

अर्थात् जो ज्ञान अनुमेयमें (न्या० पृ० २४) त्रिरूपलिङ्गसे उत्पन्न होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

तथा त्रिरूपलिङ्गका कहना परार्थानुमान है।

यद्यपि इन लक्षणोंसे स्वार्थानुमानका ज्ञानरूप तथा परार्थानुमान का वचन रूप होना स्पष्ट है तथापि इन दोनोंका एक लक्षण हो सकता था। क्योंकि यद्यपि ये दोनों ज्ञान तथा वचन रूप हैं तथापि दोनों ही त्रिरूपलिङ्गसे उत्पन्न होते हैं। अतएव आचार्य धर्मकीर्ति अथवा धर्मोत्तर अनुमानका लक्षण 'त्रिरूपलिङ्गत्वमनुमानम्' कर सकते थे। जैसा कि प्राचीन न्यायके नये ग्रन्थ सिद्धान्तमुक्तावली, तर्कभाषा तथा तर्कसंग्रहकारने भी किया है। इन सबने ही ज्ञानात्मक स्वार्थानुमान तथा वचनात्मक परार्थानुमान माना है। तथापि 'लिङ्गपरामर्श' दोनोंमें समान होनेसे इन्होंने 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' अनुमानका लक्षण कहा है।

जैनियोंका अनुमानका लक्षण इन सबसे अधिक परिष्कृत है। वह यह है—

'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्' (परीक्षामुखसूत्र उद्देश ३ सूत्र ९) अर्थात् साधन या हेतुसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है। इसमें यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जैनी ज्ञानको ही अनुमान मानते हैं। परार्थानुमान भी उनके यहाँ ज्ञान रूप ही है। अन्तर दोनों अनुमानोंमें केवल इतना ही है कि स्वार्थानुमान विना किसीके उपदेशके अनुमाता (अनुमान करने वाला) स्वयं करता है। किन्तु परार्थानुमानका ज्ञान अनुमाताको दूसरेके वचनसे होता है। आचार्य धर्मकीर्तिका भी परार्थानुमानसे सम्भवतः यही आशय था किन्तु उस समय योग्य शब्द स्मरण न आनेसे वह सीधे आचार्य दिङ्नागके पीछे ही चले गये। क्योंकि परार्थानुमानके लक्षणकी पुष्टिमें उन्होंने हेतु यह दिया है 'कारणे कार्योपचारात्' (न्या० पृ० ६१)। अर्थात् यहाँ कारण 'वचन' में कार्य 'ज्ञान' का उपचार कर लेनेसे वचन ही परार्थानुमान माना गया है।

ऐसा विदित होता है कि अनुमानके स्वार्थ और परार्थभेद बौद्ध नैयायिकोंके आविष्कार थे। क्योंकि न तो उनका सिद्धसेन दिवाकर (लगभग ४८०–५५० ई०) से पहिलेके जैन न्यायके ग्रन्थोंमें ही उल्लेख है और न न्याय दर्शनमें ही है। इसके विरुद्ध न्याय दर्शनमें उसके और ही पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट नामके तीन २ भेद उपलब्ध होते हैं।

ऊपर न्यायबिन्दुकथित स्वार्थानुमानका लक्षण कहा जा चुका है। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जावे तो बौद्धोंका 'तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्' और जैनियों 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्' एक ही बात है। क्योंकि अनुमेय साध्य होता ही है (न्या० पृ० २४ पं० १२) और त्रिरूपलिङ्ग भी हेतुके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसा कि न्यायबिन्दुके बहुतसे स्थलोंसे प्रगट होता है। इसीलिये स्वार्थानुमानके लक्षणके पश्चात् न्यायबिन्दुमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति नामक त्रिरूपलिङ्गका वर्णन किया गया है। यदि विस्तारसे कहना हो तब तो मध्यकालीन नैयायिकोंके समान इनमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व और बढ़ाये जा सकते हैं। किन्तु बौद्धोंने तीन ही रूप रखकर हेतुका कथन किया है। इस

अवसर पर हमको फिर जैनियोंका हेतुका लक्षण स्मरण हो आता है जो इनसे अधिक परिष्कृत, संक्षिप्त तथा युक्तिपूर्ण है। वह यह है—

'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः'। (परीक्षामुख उद्देश ३ सूत्र १५।)

अर्थात् जिसका साध्य (अनुमेय) के साथ अविनाभावी सम्बन्ध निश्चित हो वह हेतु होता है।

वास्तवमें विचार किया जावे तो त्रिरूपलिङ्ग अविनाभावनियम अथवा व्याप्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस प्रकार न्यायविन्दुकारने हेतुके लक्षणका वर्णन करके फिर उसके भेदोंका वर्णन किया है। किन्तु उन बेचारोंको अपना अभिप्राय प्रगट करने योग्य पर्याप्त शब्द यहाँ भी नहीं मिले हैं। क्योंकि कभी वह पक्षधर्मत्व आदिको त्रिरूपलिङ्ग कहते हैं तथा कभी वह हेतुके भेद अनुपलब्धि, स्वभावलिङ्ग और कार्यलिङ्गको त्रिरूपलिङ्ग कहते हैं। इसी मुसीबतमें पड़ जानेसे उन्होंने त्रिरूपलिङ्गको एक स्थानपर 'त्रैरूप्य' (न्या० पृ० २२ पं० ९) तथा दूसरे स्थान पर भेदोंको 'त्रिरूपलिङ्ग' कहा है (न्या० पृ० २५ पं० १४)

अब थोड़ा विचार बौद्धोंके इन तीनों हेतुओं पर भी कर लें। प्राचीन नैयायिकोंने तो हेतुके भेद करनेपर विशेष ध्यान ही नहीं दिया है। हाँ, जैन नैयायिकोंमें हेतुके भेद बौद्धोंसे भी अधिक किये हैं। किन्तु विषयान्तर हो जानेसे हम यहाँ केवल बौद्धोंके ही हेतुके भेदोंपर विचार करेंगे।

यह पीछे दिखलाया जा चुका है कि बौद्धोंने हेतुके तीन भेद माने हैं—

स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि।

जो पदार्थ उपलब्ध हैं वह अनुपलब्ध नहीं हो सकते अतएव उपलब्ध होना पदार्थका स्वभाव है। स्वभाव लिङ्गमें पदार्थों की यह उपलब्धि ही हेतु रूपमें उपस्थित की जाती है। जैसे—'यह वृक्ष है, क्योंकि यह शीशम है'

कार्यलिङ्ग अनुमेय (साध्य) के कार्यको देखकर उसकी उपलब्धिका अनुमान करता है। जैसे किसीने धुआँ देखकर कहा कि—'यहाँ अग्नि है क्योंकि यहाँ धुआँ है।'

पदार्थका न मिलना अनुपलब्धि है। बौद्धोंने इसको भी हेतु माना है। जैसे—देवदत्तको उसके घरमें अनुपस्थित देखकर कोई कहे—'देवदत्त घरमें नहीं है। क्योंकि वह वहाँ अनुपलब्ध है।'

इन तीनों हेतुओंमेंसे स्वभाव और कार्य वस्तु की उपस्थिति और अनुपलब्धि अनुपस्थितिको साधन करते हैं।

इसके पश्चात् कुछ इन हेतुओंका ही वर्णन करके अनुपलब्धिके भेद बतलाकर द्वितीय परिच्छेद समाप्त किया गया है। अनुपलब्धिके भेदोंको हम विस्तारके भयसे यहाँ नहीं लिख रहे हैं।

तृतीय परिच्छेद।

इस परिच्छेदमें परार्थानुमानका वर्णन है। आरम्भमें उसकी परिभाषा दी हुई है, जिसका पीछे वर्णन कर आये हैं। इसके पश्चात् उसके साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् दो भेद बतलाकर स्वयं ही कह दिया है कि इनमें अर्थसे कोई भेद नहीं है केवल प्रयोगका भेद है (न्या० पृ० ४७ पं० १७)। अतएव इन दोनोंके विषयमें हम यहाँ कुछ नहीं लिखेंगे।

इन दोनों ही प्रयोगोंमें पक्षका अवश्य ही निर्देश किया जाना चाहिये। अतएव परार्थानुमानके भेदोंके पश्चात् पक्षका वर्णन किया गया है। जो कि लगभग सभी न्यायोंमें एक ही प्रकारसे कहा गया है। यहाँ सामान्यरूपसे परार्थानुमानका वर्णन समाप्त हो गया है।

इसके पश्चात् हेत्वाभासोंका वर्णन है। यह पीछे बतलाया जा चुका है कि बौद्ध हेतुमें पक्षधर्मत्व आदि तीन बातोंका होना आवश्यक मानते हैं। अतएव उन तीनों रूपोंमेंसे एक भी रूपके न होने अथवा संदिग्ध होनेपर हेत्वाभास हो जाता है। अतएव त्रिरूपलिङ्ग माननेसे बौद्धोंको तीन ही हेत्वाभास भी मानने पड़े हैं। जो कि ये हैं—

असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक।

पीछे दिखलाया जा चुका है कि मध्यकालीन नैयायिक हेतुमें पाँच बातोंका होना आवश्यक मानते थे। अतएव उनके मतके अनुसार इन्हीं तीनमें बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष ये दो और जोड़ देनेसे पाँच हेत्वाभास होते हैं।

न्याय दर्शनमें सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत ये पाँच हेत्वाभास माने हैं, जो कि ऊपर वालोंसे अविरुद्ध ही हैं।

जैनियोंने असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास माने हैं। जिनमें अकिञ्चित्कर हेत्वाभास नया हेत्वाभास है।

न्यायबिन्दुमें इनके भेद प्रभेद भी बहुतसे दिखलाये हैं जो अन्य नैयायिकोंसे विशेष भिन्न नहीं है।

हेत्वाभासोंके पश्चात् दृष्टान्त और दृष्टान्ताभासोंका वर्णन है।

(८) न्यायबिन्दुमें अन्य दर्शनोंके सिद्धान्त।

हम पीछे बतला आये हैं कि आरम्भिक बौद्धन्यायपर गौतमीय न्यायकी पूरी छाप लगी हुई है। न्यायबिन्दुको देखनेसे पता चलता है कि वह छाप इतनी पक्की हो गई थी कि धर्मकीर्ति भी उसकी उपेक्षा न कर सके। और इसी कारणसे उन्होंने ग्रन्थ समाप्त करते २ विशेष आवश्यक न होनेपर भी दूषणा, जाति और जात्युत्तरका थोड़ा सा वर्णन कर ही डाला। इनमें से जाति न्यायदर्शनका एक मुख्य विषय है। न्यायबिन्दुकी समालोचनाको समाप्त करते हुए इतना लिख देना और आवश्यक प्रतीत होता है कि न्यायबिन्दु पद्य तो है ही नहीं, किन्तु यह सूत्र या वार्तिक भी नहीं है। सूत्र किसी अपेक्षासे इसको कह भी सकते हैं। किन्तु लेखके बीचमें संख्या इत्यादिका

बिलकुल अभाव होनेसे इसको सूत्र समझना भी कठिन है। हमारी सम्मतिमें यह बौद्ध न्यायके ऊपर एक स्वतन्त्र निबन्ध है जो कि विचारकर ऐसे ढंगसे लिखा गया है कि उसका प्रत्येक वाक्य सूत्र सा प्रतीत होता है।

न्यायबिन्दु टीकामें पृष्ठ ५२ पं० २३ में 'तस्यैवेति' पाठ है किन्तु उसका मूल उपलब्ध नहीं है। यद्यपि 'तस्यैव' को अगले वाक्यमें मिला देनेसे वह वाक्य (तस्यैव तत्स्वभावत्वात्स्वभावस्य च हेतुत्वात्) पूरा हो जाता है तथापि चित्तमें यह खटका बना ही रहता है कि न जाने और कहाँ २ पाठ छूट गया हो।

न्यायबिन्दुसे प्रगट होता है कि आचार्य धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर दोनों अन्य भारतीय दर्शनोंके भी धुरन्धर विद्वान् थे। क्योंकि दृष्टान्ताभासके वर्णन तथा अन्य ऐसे ही स्थलों पर उन्होंने थोड़े २ शब्दोंमें अन्य दर्शनोके सिद्धान्तोंका अच्छा वर्णन किया है।

आचार्य धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दु पृ० ९८ पं० १५ तथा पृ० १०० पं० ७ में जैनियोंके तीर्थंकर ऋषभका उल्लेख दोनों स्थल पर तथा वर्धमानका उल्लेख प्रथम स्थलपर किया है। इससे प्रगट होता है कि उनके समय आठवीं शताब्दीमें भी जैनेतर विद्वान् जैनधर्मका प्रथम उपदेश देनेवाला भगवान् ऋषभदेवको ही समझते थे न कि भगवान् वर्धमानको। जैनधर्मका प्रथम उपदेष्टा भगवान् महावीर या पार्श्वनाथको कहने की धारणा पाश्चात्य ऐतिहासिकोंके ही मस्तिष्ककी उपज विदित होती है।

(६) न्यायबिन्दुकी टीकाएँ।

न्यायबिन्दु जैसा क्लिष्ट ग्रन्थ है वैसी ही प्रचुर संख्यामें इसकी टीकायें नहीं मिलतीं। यद्यपि टीकायें इसकी भी कम नहीं बनीं तथापि उनमेंसे अधिकांशका मूल संस्कृत लुप्त हो गया है, केवल उनका तिब्बी अनुवाद शेष है। न्यायबिन्दुकी निम्नलिखित टीकायें बनी हैं—

१—न्यायबिन्दुपिण्डार्थ—आचार्य जिनमित्र (लगभग १०२५ ई०) कृत। इसमें न्यायबिन्दुका सारांश है।

२—न्यायबिन्दुपूर्वपक्ष संक्षिप्त—आचार्य कमलशील (लगभग ७५०ई०) कृत इसमें न्यायबिन्दुकी समालोचनाओंका संक्षेप है।

३—धर्मोत्तरटिप्पणक-श्वेताम्बर जैन आचार्य मल्लवादिन् (लगभग ८२७ ई०) कृत। धर्मोत्तरकृत न्यायबिन्दु टीका की टीका। यह अनहिलवाड़ा पाटनमें ताड़पत्र पर लिखी हुई रखी है।

४—न्यायबिन्दुटीका—आचार्य विनीतदेव (लगभग ७०० ई०) कृत, यह न्यायबिन्दुके ऊपर विस्तृत टीका है।

५—न्यायबिन्दुटीका-आचार्य धर्मोत्तर (लगभग ८४७ ई०) कृत। यह पाठकोंके हाथोंमें विद्यमान है। यह भी न्यायबिन्दुके ऊपर विस्तृत टीका है।

(१०) न्यायबिन्दुमें बौद्धदर्शनके सिद्धान्त।

यद्यपि न्यायबिन्दु विशुद्ध न्यायका ही ग्रन्थ है तथापि प्रसङ्गवश कहीं २ आचार्यने उसमें ऐसे वाक्य भी लिखे हैं जिनसे बौद्ध सिद्धान्तोंकी बहुत कुछ झलक मिलती है। हमने ऐसे वाक्योंको यथाशक्ति प्रयत्न करके न्यायबिन्दुमें से निकाला है और उनके अन्दरसे हमारी सम्मतिमें जो दार्शनिक सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं उनको नीचे दिया है—

(१) जहाँ सांख्य सत्से सत् की उत्पत्ति मानता है वहाँ बौद्ध असत्की उत्पत्ति और सत्का निरन्वय विनाश मानता है। जैसा कि कहा है—

'परस्य चासत उत्पाद उत्पत्तिमत्त्वम्। सतश्च निरन्वयो विनाशोऽनित्यत्वं सिद्धम्'। (न्या० पृ० ६९ पं० १४)

(२) बौद्धोंने विज्ञान, इन्द्रिय और आयुके निरोधको ही मरण माना है। जैसा कि धर्मकीर्तिने कहा है—

'विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्'। (न्या० पृ० ६८ पं० १०)

(३) बौद्धदर्शन वृक्षोंमें विज्ञान आदिका सद्भाव नहीं मानता। अतएव मरने या जीनेका उनमें विकल्प ही नहीं है—

'तस्य च विज्ञानादिनिरोधात्मकस्य तरुष्वसंभवात्'। (न्या० पृ० ६८ पं० १९)

(४) बौद्ध सुख आदिको अचेतन मानते हैं। जैसा कि धर्मकीर्ति के निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट होता है—

'अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम्'। (न्या० पृ० ६७ पं० ७)

(५) बौद्ध आत्माको नहीं मानता। जैसा कि टीकामें कहा गया है—

'तदिह बौद्धस्यात्मैव न सिद्धः'। (पृ० ७१ पं० ५) तथा 'बौद्धेनोक्तं नास्त्यात्मा'। (पृ० ६३ पं० १२)

(६) पीछे बतला दिया है कि बौद्ध दर्शन विज्ञान, इन्द्रिय और आयुके निरोधको मरण मानता है किन्तु आत्माको नहीं मानता। यहाँ यह शङ्का होती है कि जब आत्मा ही नहीं है तो मरण किसका होता है। उसका समाधान यह है कि बौद्ध वास्तवमें मरण नहीं मानता किन्तु निरोध (रुकना) मानता है। बौद्ध प्राण आदिको मानता है किन्तु अनात्मवादी होनेसे न तो उनको सात्मक ही मानता है और न निरात्मक ही मानता है। जब तक विज्ञान आदि शरीरमें रहते हैं तब तक शरीर जीता है जब नहीं रहते तो मर जाता है। इसलिये प्राण आदि जीवित शरीर सम्बन्धी हैं। जैसा कि धर्मकीर्तिने कहा है—

'सात्मकत्वेन निरात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्राणोदरसिद्धिः'। (पृ० ८३ पं० २)। तथा 'तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादिः'। (पृ० ८३ पं० ७)

(७) कर्मको अन्य दर्शनकारोंके समान बौद्धने भी अनित्य ही माना है। जैसा कि टीकामें कहा है—

'साध्यविकलं कर्म तस्यानित्यत्वात्' (पृ० ९५ पं० १)

(८) परमाणुको बौद्ध भी मूर्त मानता है। जैसा कि टीकामें कहा है—

'असर्वगतं द्रव्यपरिमाणं मूर्तिः । असर्वगताश्च द्रव्यरूपाश्च परमाणवः । (पृ० ९५ पं० ३)

(९) घटको अनित्य भी माना है और मूर्त भी माना है। जैसा कि कहा है—

(घटस्तूभयविकलः । अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच घटस्येति । (पृ० ९५ पं० ४)

(१०) बौद्ध दर्शनमें जो पदार्थ विद्यमान हैं वे सब अनित्य हैं। जैसा कि धर्मकीर्तिने कहा है—

'यत्सत्तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति'। (पृ० ४९ पं० १५)

(११) बौद्ध दर्शनमें साध्य और साधनको बिलकुल अभिन्न मानकर उनका तादात्म्य सम्बन्ध माना है। उनमें भेद समारोप जनित है। जैसा कि कहा है—

'साध्यसाधनयोस्तादात्म्यम्। समारोपितस्तु साध्यसाधनयोर्भेदः'। (पृ० ५२ पं० ११)
हमने न्यायबिन्दुके उपरोक्त वाक्योंमें से स्थूल सिद्धान्तोंको ही निकाला है। सूक्ष्म सिद्धान्तोंको निकालनेका काम अपने लिये असाध्य समझकर विशेष विद्वानोंके लिये छोड़ दिया है।

धन्यवाद।

इस भूमिकाको समाप्त करनेके पूर्व मुझे एक और कर्तव्यका पालन करना है। सबसे प्रथम मुझे डाक्टर सतीशचन्द्रजी विद्याभूषणको धन्यवाद देना है जिनकी पुस्तकसे मैं इस भूमिकामें ऐतिहासिक अंश देनेमें सफल हुआ हूँ। यद्यपि हमने इस विषयके अन्य भी कई ग्रन्थ देखे, किन्तु उनसे कुछ भी विशेष लाभ न हो सका। दूसरे मुझे हिन्दू विश्वविद्यालयके फिलासोफीके प्रोफेसर तथा सहायक रजिस्ट्रार पं० इन्द्रदेव जी तिवारी एम० ए० को देना है जिनसे मुझको समय २ पर योग्य सम्मति तथा अनेक प्रकारकी सहायता मिली है। वास्तवमें आपकी सहायताके बिना मेरा काम अत्यन्त गुरुतर हो जाता। गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेजके प्रिंसिपल तथा संस्कृत परीक्षाओंके रजिस्ट्रार पं० गोपीनाथजी कविराज एम० ए० की सहायता का तो मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने अपने अमूल्य समयको नष्टकर मुझे विविध प्रकारकी सहायता दी है।

भदैनी, बनारस
दि० २८ जून १९२४ ई०।

चन्द्रशेखर शास्त्री।
काव्यसाहित्यतीर्थाचार्य।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

भारत में बौद्ध विषयक ग्रन्थों के सम्बन्ध में जनता की रुचि का पता इस तथ्य से भली प्रकार लगता है कि इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण का उत्थान सन् १९२४ के पश्चात् आज ३० वर्ष की लम्बी अवधि के उपरान्त आया है। यद्यपि यह ग्रंथ कई विश्वविद्यालयों के एम० ए० तथा संस्कृत की अनेक स्नातकोत्तर परीक्षाओं का पाठ्य ग्रन्थ है, किन्तु संभवतः विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने इसमें अधिक रुचि प्रकट नहीं की। इसको देश के दुर्भाग्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जा सकता।

न्यायबिन्दु के १९२४ में प्रकाशित होने के उपरान्त विद्वानों ने बौद्धन्याय के सम्बन्ध में पर्याप्त खोज की भारत के कुछ विद्वानों ने तिब्बत के प्राचीन ग्रन्थ भण्डारों में जाकर तिब्बती में लिखे हुए संस्कृत ग्रन्थों के अन्वेषण में अपना सारा जीवन लगा दिया। इस खोज के फलस्वरूप आचार्य धर्मकीर्ति के कुछ अन्य न्याय ग्रन्थों का अपने मूल संस्कृतरूप में पता लग गया। धर्मकीर्ति के अतिरिक्त अन्य भी अनेक बौद्ध आचार्यों के ग्रन्थों का अपने मूल संस्कृतरूप में पता लग चुका है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय की इस महत्त्वपूर्ण खोज के फलस्वरूप पटना की विहार रिसर्च सोसाइटी ने बौद्धन्याय के निम्नलिखित सस्कृत ग्रन्थों को प्रकाशित किया है—

१. **प्रमाणवार्तिक**—यह आचार्य धर्मकीर्ति की रचना अपने मूल संस्कृत रूप में छपी है।

२. **वादन्याय अथवा तर्कन्याय**—भी धर्मकीर्ति का ग्रन्थ है।

३. **प्रमाणवार्तिकवृत्ति**—इसकी रचना मनोरथनन्दी ने की है।

४. **प्रमाणवार्तिकभाष्य**—इसकी रचना प्रज्ञाकर गुप्त ने की है विहार रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में।

५. धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका भी प्रकाशित हुई है। इसकी रचना कर्णकगोमी ने की है। बाद में इसको प्रयाग के किताबमहल ने प्रकाशित किया।

पटना से रत्नकीर्ति के अन्य भी अनेक न्यायनिबन्धों के प्रकाशित होने की आशा है। वहां ज्ञानश्रीमित्र के न्यायग्रन्थों का संपादन तथा प्रकाशन करने का भी आयोजन किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़ में हेतुबिन्द टीका अपनी अनुटीका सहित छपी है।

इन ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का बहुत कुछ श्रेय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को है।

इस प्रकार यद्यपि विशेष विद्वान् बौद्धन्याय के सम्बन्ध में अधिकाधिक खोज करते जाते हैं, किन्तु जनता की उनमें पर्याप्त रुचि नहीं होती। स्वाधीन भारत के नागरिकों को गंभीर अध्ययन के क्षेत्र में अपने दृष्टिकोण को अत्यधिक उदार बनाना चाहिये।

४५६६ बाजार पहाड़गंज
नई दिल्ली-१
दनांक १९ अगस्त १९५४ ई०

चन्द्रशेखर शास्त्री

न्यायबिन्दु-विषयानुक्रमणिका

प्रथमः परिच्छेदः ।

द्वितीयः परिच्छेदः ।

तृतीयः परिच्छेदः।



नमः सर्वज्ञाय

न्यायबिन्दुः

प्रथमपरिच्छेदः

जयन्ति(१) जातिव्यसनप्रबन्धप्रसूतिहेतोर्जगतो विजेतुः ।
रागाद्यरातेः सुगतस्य वाचो मनस्तमस्तानवमादधानाः ॥

सम्यग्ज्ञानपूर्विकेत्यादिनास्य प्रकरणस्याभिधेयप्रयोजनमुच्यते—

सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते ।

---

(१) तत्र विदुषामग्रणीः श्रीधर्मोत्तराचार्यः न्यायबिन्दुं व्याचिख्यासुः प्रारिप्सितग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थं वा स्वमतं स्थापयन् भगवतो बुद्धस्य गुणसंस्तवनं करोति । '**जयन्ति**' इत्यादिना । सुगतस्य भगवतो बुद्धस्य वाचः वाण्यः जयन्ति । कथम्भूतस्य बुद्धस्येत्यत आह—जातीनाम् प्राणिसामान्यानां । 'जातिर्जातञ्च सामान्यम्' **इत्यमरः** । व्यसनस्य विपदः 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' **इत्यमरः** । प्रबन्धस्य सन्दर्भस्य परम्परायाः इत्यर्थः । या प्रसूतिः श्च्योतः क्षरणं नाश इत्यर्थः । 'प्रसूतिः प्रसवे श्च्यो ते' **इत्यमरः** । तस्या हेतुः कारणभूतस्तस्य । एतेन संसारस्य दुःखमयत्वं बुद्धस्य तद्विनाशे कारणत्वञ्च प्रदर्शितम् । जगतः संसारस्य विजेतुः जयकर्त्तुस्तस्मिन्ननासक्तस्येत्यर्थः । एतेन बुद्धस्य सर्वसंसारसम्बन्धिविकारेषु जयित्वं जगतस्तरणत्वञ्च सूचितम् । रागादीनाम् रागद्वेषलोभमोहादिसंसारसम्बन्धिभावानामरातिश्शत्रुस्तस्य । एतेन तस्य वीतरागित्वं द्योतितम् । एतादृशः सुगतस्य बुद्धस्य वाचः जयन्ति । कथम्भूता वाचः इत्यत आह—**मनः** इत्यादि । मनसो यत्तमस्तस्य तानवं तनोः भावस्तं कार्श्यमादधानाः सम्पादयन्त्यः । एतेन बुद्धस्य वाचि ज्ञानप्रदत्वं प्रकटीकृतम् ।

सौगताः 'बुद्धः परमेश्वरस्यावतार' इति नाभिमन्यन्ते । किन्तु तेषां मते सर्वसंसारि-

---

१ 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वेत्यादिना' इति पाठान्तरम् 'क' पुस्तके ।

द्विविधं हि प्रकरणशरीरं शब्दोऽर्थश्चेति[1]। तत्र शब्दस्य स्वाभिधेय[2]-प्रतिपादनमेव प्रयोजनम्। नान्यत्। अतस्तन्न[3] निरूप्यते। अभिधेयं[4] तु यदि निष्प्रयोजनं स्यात्तदा तत्प्रतिपत्तये शब्दसन्दर्भोऽपि नारम्भणीयः स्यात्। यथा काकदन्तप्रयोजनाभावान्न तत्परीक्षारम्भणीया प्रेक्षावता। तस्मादस्य प्रकरणस्यारम्भणीयत्वं दर्शयताभिधेयप्रयोजनमनेनोच्यते। यस्मात्सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्[5]तत्प्रतिपत्त्यर्थमिदमारभ्यत इत्ययमत्र वाक्यार्थः।

अत्र च प्रकरणाभिधेयस्य सम्यग्ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वं प्रयोजनमुक्तम्। अस्मिंश्चार्थे उच्यमाने सम्बन्धप्रयोजनाभिधेयान्युक्तानि भवन्ति[6]। तथा हि—पुरुषार्थोपयोगि सम्यग्ज्ञानं व्युत्पादयितव्यमनेन प्रकरणेनेति ब्रुवता सम्यग्ज्ञानमस्य शब्दसन्दर्भस्याभिधेयं, तद्व्युत्पादनं प्रयोजनं, प्रकरणं चेदमुपायो व्युत्पादनस्येत्युक्तं[7] भवति। तस्मादभिधेयभागप्रयोजनाभिधानसामर्थ्यात्सम्बन्धादीन्युक्तानि भवन्ति। न त्विदमेकं वाक्यं[8] सम्बन्धमभिधेयं प्रयोजनं च वक्तुं साक्षात्समर्थम्[9]। एकं तु वदत् त्रयं

जीवानामिव बुद्धोऽप्यस्मिन्नेव संसारेऽनादिकालादारभ्य संसरति स्म। पश्चात्काललब्धिवशात्—शुभकर्म कृत्वा काश्चिच्छुभगतीः प्राप्तवान्। क्रमेण च स शुद्धोदनगृहे सिद्धार्थो बभूव तत्र कानिचिद्दिनानि यौवनसुखमनुभूय तेष्वसन्तुष्टः सन् यौवनावस्थायामेव स कलत्रपुत्रादिगृहं परित्यज्य सुदुष्करं तपश्चकार। क्रमेण च संसारकारणीभूतरागादिभावान् त्यक्त्वा बुद्धो बभूव। तदनन्तरं स सर्वसंसारिजीवान् दुःखनिवृत्युपायं बोधयित्वा निर्वाणं प्राप्तवान्। अयमेव भावो टीकाकारेण श्लोकेऽस्मिन् प्रदर्शितः।

---

१ 'चेति' इति पदं 'ख' पुस्तके न विद्यते। २ 'स्वाभिधेय०' इत्यस्य स्थाने 'अभिधेय०' इति पाठो विद्यते 'ख' पुस्तके। ३ सर्वेषां शब्दानां स्वाभिधेयप्रतिपादनपरत्वात्। 'न' इति पदं 'क' पुस्तके न विद्यते। ४ 'अभिधेये तु निः प्रयोजने तत्प्रतिपत्तये' इनि पाठान्तरं 'ख' पुस्तके। ५ 'तत्प्रतिपत्तये' इति पाठान्तरम् 'ख' पुस्तके। ६ यतः—सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ १॥ यावत् प्रयोजनेनास्य सम्बन्धो नाभिधीयते। असम्बद्धप्रलापित्वाद्भवेत्तावदसङ्गतिः॥ २॥ तस्माद् व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुः सप्रयोजनः। शास्त्रावतारसम्बन्धो वाच्यो नान्योऽस्ति निष्फलः॥ ३॥ ७ 'उपायो व्युत्पादनस्य' इत्यस्य स्थाने 'उपयोग्युत्पादनस्य' इति पाठान्तरम् 'ख' पुस्तके। ८ 'वाच्यम्' इति पाठान्तरम् 'ख' पुस्तके। ९ 'सामर्थम्—एकं तु वदत्' इति पाठान्तरं 'ख' पुस्तके। 'क' पुस्तके नैतान्यक्षराणि जीर्णतयाऽवलोकितुमर्हाणि।

सामर्थ्याद्दर्शयति। तत्र तदित्यभिधेयपदम्। व्युत्पाद्यत इति प्रयोजनमि[1]दम्। प्रयोजनं चात्र वक्तुः प्रकरणकरणव्यापारस्य चिन्त्यते श्रोतुश्च श्रवणव्यापारस्य। तथा हि—सर्वे प्रेक्षावन्तः प्रवृत्तिप्रयोजनमन्विष्य[2] प्रवर्तन्ते। ततश्चा[3]ऽऽचार्येण प्रकरणं किमर्थं कृतं श्रोतृभिश्च किमर्थं श्रूयत इति संशयव्युत्पादनं प्रयोजनमभिधीयते[4]। सम्यग्ज्ञानं व्युत्पाद्य[5]मानानामात्मानं व्युत्पादकं[6] कर्तुं प्रकरणमिदं कृतं; शिष्यैश्चाचार्यप्रयुक्तामात्मनो व्युत्पत्तिमिच्छद्भिः प्रकरणमिदं[7] श्रूयत इति प्रकरणकरणश्रवयोः प्रयोजनव्युत्पादनम्। सम्बन्धप्रदर्शनपदं तु न विद्यते। सामर्थ्यादेव तु स प्रतिपत्तव्यः[8]। प्रेक्षावता हि सम्यग्ज्ञानव्युत्पादनाय प्रकरणमिदमारब्धवताऽयमेवोपायो नान्य इति दर्शित एवोपायोपेयभावः प्रकरणप्रयोजनयोः सम्बन्ध इति।

ननु[9] च प्रकरणश्रवणात्प्रागुक्तान्यप्य[10]भिधेयादीनि प्रमाणाभावात्प्रेक्षावद्भिर्न गृह्यन्ते तत्किमेतैरारम्भप्रदेश[11] उक्तैः। सत्यम्[12]। अश्रुते प्रकरणे कथितान्यपि न निश्चीयन्ते उक्तेषु त्वप्रमाणकेष्वप्यभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते संशयाच्च प्रवर्तन्ते। अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्त्यङ्गम् प्रेक्षावताम्। अनर्थसंशयो[13] निवृत्त्यङ्गम्। अत एव शास्त्रकारेणैव पूर्वं सम्बन्धादीनि युज्यन्ते वक्तुम्। [14]व्याख्यातॄणां हि वचनं [15]क्रीडाद्यर्थमन्यथापि सम्भाव्यते। शास्त्रकृतां तु प्रकरणप्रारम्भे न विपरीताभिधेयाद्यभिधाने प्रयोजनमुत्पश्यामो नापि प्रवृत्तिम्। [16]अतस्तेषु[17] संशयो युक्तः। अनुक्तेषु[18] तु प्रतिपत्तृभिर्निष्प्रयोजनमभिधेयं संभाव्येतास्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षाया इव, अशक्यानुष्ठानं वा [19]ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत्, अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहक्रमोपदेशवत्, [20]अतो वा प्रकरणाल्लघुतरं

---

१ ख॰ 'प्रयोजनपदम्'! २ सम्यक्प्रकारेणानुसन्धाय। ३ 'च' इति पदं 'क' पुस्तके न विद्यते। ४ प्रयोजनस्य लक्षणमिदम्। ५ बोध्यमानान् शिष्यान् प्रति। ख. व्युत्पाद्यमानानाम्। ६ विशेषेणोत्पादयत्यर्थमिति व्युत्पादकः बोधक इति यावत्। ७ 'इदम्' इति पदं ख. पुस्तके न विद्यते। ८ ज्ञातव्यः। ९ ननुपदेन शङ्का व्यज्यते सर्वत्र। १० 'अपि' इति पदं 'ख' पुस्तके न विद्यते। ११ 'प्रदेशः' इत्यशुद्धः पाठो विद्यते मुद्रितपुस्तके। १२ सत्यमित्यर्द्धस्वीकारे। १३ 'ख' पुस्तके 'अपि' इत्यधिकः पाठो विद्यते। १४ ख. 'आख्यातॄणां टीकाकाराणाम्।' १५ क. 'क्रीडार्थं॰' १६ यथाथंप्रयोजनाभावात्। १७ सम्बन्धादिषु। १८ तेषु सम्बन्धादिषु। १९ ख. 'ज्वरहतक्षक॰'। २० ख, पुस्तकस्य 'भावाप्रकरणात्ः इति पाठान्तरमशुद्धं प्रतीयते।

उपायः प्रयोजनस्य, अनुपाय एव वा प्रकरणं सम्भाव्येत[1]। एतासु चानर्थसम्भावनास्वेकस्यामप्यनर्थसम्भावनायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते। अभिधेयादिष्व[2]र्थसम्भावनाऽनर्थसम्भावना विरुद्धोत्पद्यते। तया तु[3] प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते। इति प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यङ्गमर्थसम्भावनां कर्तुं सम्बन्धादीन्यभिधीयन्त इति स्थितम्।

अविसंवाद[4]कं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापय[5]न्संवादक उच्यते तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं[6] प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्संवादकमुच्यते। प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम्। नान्यत्। तथा हि—न ज्ञानं जन[7]यदर्थं प्रापयति। अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम्। प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव। न हि पुरुषं हठात्प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्[8]। अत एव [9]चार्थाधिगतिरेव प्रमाणफलम्। अधिगते[10] चार्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः। तथा च सत्यर्थाधिगमात्समाप्तः प्रमाणव्यापारः। अत एवा[11]नधिगतविषयं प्रमाणम्। येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थस्तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः। तत्रैवार्थे[12] किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम्। ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम्। तत्र योऽर्थो दृष्टत्वेन[13] ज्ञातः स प्रत्यक्षेण प्रवृत्तिविषयीकृतः[14]। यस्माद्यस्मिन्नर्थे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तस्य प्रदर्शकं प्रत्यक्षम्। तस्माद्दृष्टतया ज्ञातः प्रत्यक्षदर्शितः। अनुमानन्तु लिङ्गदर्शनान्निश्चिन्वत्[15] प्रवृत्तिविषयं दर्शयति। यथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति, अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं[16] नियतमर्थं दर्शयति। अत एते नियतस्यार्थस्य[17] प्रदर्शके। तेन ते प्रमाणे। नान्यद्विज्ञानम्। प्राप्तुंशक्यमर्थमाद[18]र्शयत्प्रापकम्। प्रापकत्वाच्च प्रमाणम्। आभ्यां

---

१ ख. पुस्तके संख्यावाची शब्दः '५' अपि दृश्यतेऽत्र। चतुर्णां पूर्वाणामप्यग्रे संख्या दृश्यन्ते। २ ख. पुस्तके 'त्तक्तेषु' पाठान्तरमुपलभ्यते। यच्चाशुद्धत्वात् 'उक्तेषु' इत्यस्य स्थाने प्रयुक्तमिवावलोक्यते। ३ 'तु' इति पदं ख. पुस्तके न विद्यते। ४ ख. 'अभिसंवादसंज्ञानम्' इति पाठान्तरमशुद्धं प्रतीयते। ५ न खलु पूर्वमुपदर्शितेऽर्थे प्रवर्तकत्वमपि स्वपूर्वमुपदर्शितेऽर्थे प्रवर्तकत्वं संवादकत्वम्। ६ 'स्वयम्' इति पदं 'क' पुस्तके न विद्यते। ७ उत्पत्तिक्षण एव। ८ ख. ज्ञानम्। ९ 'च' इतिपदं ख. पुस्तके नैवोपलभ्यते। १० ज्ञाते। ११ 'च' इत्यधिकं पदं ख. पुस्तके। १२ ख. तत्रैव चार्थे'। १३ प्रत्यक्षदृष्टत्वेन। १४ ख. प्रवृत्तविषयः। १५ निश्चयं कुर्वत्। १६ क. पुस्तकस्य 'लिङ्गसम्बन्धम्' इति पाठोऽशुद्धो प्रतीयते। १७ ख. 'नियतार्थस्य'। १८ ख. 'उपदर्शयत्'

प्रमाणाभ्यामन्येन च ज्ञानेन प्रदर्शितोऽर्थः[1] कश्चिदत्यन्तविपर्यस्तः[2]। यथा मरीचिकासु जलम्। स चासत्त्वात्प्राप्तुमशक्यः। कश्चिदनियतो भावाभावयोः। यथा संशयार्थः। न च भावाभावाभ्यां युक्तोऽर्थो जगत्यस्ति। ततः प्राप्तुमशक्यस्तादृशः। सर्वेण चालिङ्गजेन विकल्पेन नियामकमदृष्ट्वा प्रवृत्तेन भावाभावयोरनियत एवार्थो दर्शयितव्यः। स च प्राप्तुमशक्यः। तस्मादशक्यप्रापणमत्यन्तविपरीतं[3] भावाभावनियतं चार्थं दर्शयदप्रमाणमन्यज्ज्ञानम्। अर्थक्रियार्थिभिश्चार्थक्रिया[4]समर्थार्थप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते। यच्च तैर्मृग्यते तदेव[5] तेन शास्त्रे विचार्यते। ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम्। यच्च तेन प्रदर्शितं तदेव प्रापणीयम्। अर्थाधिगमा[6]त्मकं हि प्रापकमित्युक्तम्। तत्र[7] प्रदर्शितादन्यद्वस्तु भिन्नाकारं भिन्नदेशं भिन्नकालं च। विरुद्धधर्मसंसर्गाद्ध्यन्यद्वस्तु। देशकालाकारभेदश्च विरुद्धधर्मसंसर्गः[8]। तस्मादन्याकार[9]वद्वस्तुग्राहि नाकारान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्। यथा पीतशङ्खग्राहि शुक्ले शङ्खे। देशान्तरस्थग्राहि च न देशान्तरस्थे प्रमाणम्। यथा कुञ्चि[10]काविवरदेशस्थायां मणिप्रभायां मणिग्राहि ज्ञानं नापवरकदेशस्थे मणौ। कालान्तरयुक्तग्राहि च न कालान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्। यथार्द्धरात्रे मध्याह्नकालवस्तुग्राहि स्वप्नज्ञानं नार्द्धरात्रकाले वस्तुनि प्रमाणम्। ननु च[11] देशनियतमाकारनियतं च प्रापयितुं शक्यं यत्कालं तु परिच्छिन्नं तत्कालं न शक्यं प्रापयितुम्। नोच्यते यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति। अन्यो हि दर्शनकालोऽन्यश्च प्राप्तिकालः। किं तु यत्कालं परिच्छिन्नं तदेव[12] तेन प्रापणीयम्। अभेदाध्यव[13]सायाच्च संतानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति।

सम्यग्ज्ञानं पूर्वं कारणं यस्याः सा तथोक्ता। कार्यात्पूर्वं भवत्कारणं

१ ख० 'दर्शि:'। २ विरुद्धः। ३ ख० पुस्तकस्य 'अत्यन्तविपरीतभावाभावादानि' इति पाठोऽशुद्धो प्रतीयते। ४ 'अर्थक्रियासमर्थ' इति पाठो ख० पुस्तके न विद्यते। ५ 'तेन' इति पदं क० पुस्तके नैवोपलभ्यते। ६ ख० अर्थाविजियासमर्थवस्त्वधिगमात्मकत्वम्। ७ अर्थाधिगमे। ८ क० पुस्तकस्य 'संसर्ग्रः' ख० पुस्तकस्य च 'संसर्गेः' इति पाठावशुद्धौ। ९ ख० 'अन्याकारवस्तु'। १० क० 'कुंचिका'। ११ 'च' इति पदं क० पुस्तके न विद्यते। १२ 'तेन' इति पदं क० पुस्तके न विद्यते। १३ अध्यवसायो ज्ञानम्।

पूर्वमुक्तम् कारणशब्दोपादाने तु पुरुषार्थसिद्धेः साक्षात्कारणं मन्यते[२] । पूर्वशब्दे तु पूर्वमात्रम् । द्विविधं च सम्यग्ज्ञानम् अर्थक्रियानिर्भासम्, अर्थक्रियासमर्थे च प्रवर्तकम् । [३]तयोर्यत्प्रवर्तकं तदिह परीक्ष्यते । तच्च पूर्वमात्रम् । न तु साक्षात्कारणम् । सम्यग्ज्ञाने हि सति पूर्वदृष्टस्मरणम् । स्मरणादभिलाष[४]: । अभिलाषात्प्रवृत्तिः । प्रवृत्तेश्च प्राप्तिः । ततो न साक्षाद्धेतुः । अर्थक्रियानिर्भासे[५] तु यद्यपि साक्षात्प्रवृ[६]त्तिस्तथापि तन्न परीक्षणीयम् । यत्रैव हि प्रेक्षावन्तोऽर्थिनः साशङ्कास्तत्परीक्ष्यते । अर्थक्रियानिर्भासे च ज्ञाते[७] सति सिद्धः पुरुषार्थः । तेन तत्र न साशङ्का अर्थे[८] ज्ञाते । अतस्तन्न परीक्षणीयम् । तस्मात्परीक्षार्हमसाक्षात्कारणं सम्यग्ज्ञानमादर्शयितुं कारणशब्दं परित्यज्य पूर्वग्रहणं कृतम् ।

पुरुषस्यार्थः । अर्थ्यत इत्यर्थः । काम्यत इति यावत् । हेयोऽर्थ उपादेयो वा । हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते । उपादेयोऽप्युपादातुम् । न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति । उपेक्षणीयोऽप्य[९]नुपादेयत्वाद्धेय एव । यस्य सिद्धिर्हानमुपादानं च । हेतुनिबन्धना हि[१०] सिद्धिरुत्पत्तिरुच्यते । ज्ञाननिब[११]न्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम् । हेयस्य हानमनुष्ठानम् । उपादेयस्य चोपादानम् । ततो हेयोपादेययोर्हानोपादानलक्षणानुष्ठितिः सिद्धिरित्युच्यते[१२] ।

सर्वा चासौ पुरुषार्थसिद्धिश्चेति । सर्वशब्द इह द्रव्यकार्त्स्न्ये[१३] वृत्तो न च[१४] प्रकारकार्त्स्न्ये । ततो नायमर्थः । द्विप्रकारापि सिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धनेति । अपि त्वयमर्थः । या काचित्सिद्धिः सा सर्वा कृत्स्नैवासौ सम्यग्ज्ञाननिबन्धनैवेति[१५] । मिथ्याज्ञानाद्धि काकतालीयापि नास्त्यर्थसिद्धिः । तथा हि—यदि प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्येवं ततो भवत्यर्थसिद्धिः ।

---

१ क० ख० शब्दापादाने । २ ख० पुस्तकस्य 'गम्यत' इति पाठोऽशुद्धोऽस्ति । ३ 'मध्ये' इत्यधिकं ख० पुस्तके । ४ कामना । ५ 'ख' अर्थ क्रियानिर्भासात् । ६ ख० 'प्राप्तिः' । ७ क० 'ज्ञाने' । ८ ख: 'अर्थिनः । ९ 'अपि' पदं क० पुस्तके न विद्यते । १० हेतुरस्ति निबन्धनं कारणं यस्याः । ११ ज्ञानमस्ति निबन्धनं यस्याः । १२ 'इति' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते । १३ कृत्स्नस्तु सम्पूर्णः । कृत्स्नस्य भावः कार्त्स्न्यंस्तस्मिन् । १४ 'च' इति पाठः क० पुस्तके न विद्यते । १५ 'एव' इति पाठः ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते ।

प्रदर्शितं च प्रापयत्सम्यग्ज्ञानमेव। प्रदर्शितं चाप्रापयन्मिथ्याज्ञानम्। अप्रापकं च कथमर्थसिद्धिनिबन्धनं स्यात्। तस्माद्यन्मिथ्याज्ञानं न ततोऽर्थसिद्धिः। यतश्चार्थसिद्धिस्ततत्सम्यग्ज्ञानमेव। अत एव सम्यग्ज्ञानं यत्नतो व्युत्पादनीयम्। यतस्तदेव पुरुषार्थसिद्धिनिबन्धनम्। ततो यावद्भूया[2]त्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धनैवेति तावदुक्तं सर्वा सा[3] सम्यग्ज्ञानपूर्विकेति। इति शब्दस्तस्मादित्यस्मिन्नर्थे। यत्तदोश्च नित्यमभिसम्बन्धः। तदयमर्थो यस्मात्सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्तद्व्युत्पाद्यते[4]। यद्यपि च समासे गुणीभूतं सम्यग्ज्ञानं तथापीह प्रकरणे व्युत्पादयितव्यत्वात्प्रधानम्। ततस्तस्यैव तच्छब्देन सम्बन्धः। व्युत्पाद्यते इति विप्रतिपत्तिनिराकरणेन प्रतिपाद्यते व्युत्पाद्यत[5] इति।

चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः। संख्यालक्षणगोचर[6]फलविषया। तत्र संख्याविप्रतिपत्ति[7]निराकर्तुमाह—

द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्।

द्वौ विधौ[8] प्रकारावस्येति द्विविधम्। संख्याप्रदर्शनद्वारेण च व्यक्तिभेदो दर्शितो भवति। द्वे एवं[9] सम्यग्ज्ञानव्यक्ती इति। व्यक्तिभेदे[10] प्रदर्शिते प्रतिव्यक्तिनियतं सम्यग्ज्ञानलक्षणमाख्यातुं शक्यम्। अप्रदर्शिते तु व्यक्तिभेदे सकलव्य[11]क्त्यनुयायि सम्यग्ज्ञानलक्षणमेकं न शक्यं वक्तुम्। ततो लक्षणभेदकथनाङ्गमेव संख्याभेदकथनम्। अप्रदर्शिते तु[12] व्यक्तिभेदात्मके संख्याभेदे लक्षणभेदस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। लक्षणनिर्देशाङ्गत्वादेव च प्रथमं संख्याभेदकथनम्।

---

१ 'सिद्धि०' इत्यस्य स्थाने 'सिद्धेः' इति पाठः ख० पुस्तके। २ ख० पुस्तकस्य 'यावद्भूया' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते। क० 'या काचित्पुरुष०—सम्यग्ज्ञान०' ख० 'सा सम्यग्ज्ञान०'। ३ ख० पुस्तके 'सा' इति पदं न विद्यते। ४ 'तद्व्युत्पाद्यते' इत्यस्य स्थाने 'तत्सम्यग्ज्ञान व्युत्पाद्यते' इति पाठः ख०पुस्तके। ५ 'व्युत्पाद्यते' इति पदं ख० पुस्तके न वर्तते। ६ गोचरस्तु विषयः। ७ विप्रत्तिपत्तिस्तु विवादः। ८ ख० द्वे विधे। ९ 'एव' इति पाठः क० पुस्तके न विद्यते। १० क० 'व्यक्तिभेदे'। ख० 'भेदे'। ११ 'सकलव्यक्त्यनुयायि' इति पदं ख० पुस्तकादानीतम्। क० पुस्तक इदन्न सुपाठ्यम्। १२ 'तु' इति पाठोऽधिको विद्यतेऽत्र ख० पुस्तके।

किं पुनस्तद्द्वैविध्यं[1]मित्याह—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च ।

प्रतिगतमाश्रितमक्षम् । अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति समासः । प्राप्तापन्नालङ्गतिसमासेषु परवल्लिङ्गप्रतिषेधात् । अभिधेयवल्लिङ्गे सति सर्वलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः सिद्धः । अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य । न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षा[2]श्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते[3] । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किंचिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते । यदि त्वक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञा[4]नमेव प्रत्यक्षमुच्येत । न मानसादि । यथा गच्छतीति गौरिति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति । तथा च गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।

मीयतेऽनेनेति मानम् । करणसाधनेन मानशब्देन सारूप्यलक्षणं प्रमाणमभि[5]धीयते । लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणस्य पश्चान्मानमनुमानम् । गृहीते[6] पक्षधर्मे स्मृते च साध्यसाधनसम्बन्धेऽनुमानं प्रवर्तत इति पश्चात्कालभाव्युच्यते । चकारः । प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति । यथार्थाविनाभावित्वादर्थविनाभावित्वादर्थं प्रापयत्प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तद्वदर्थविनाभावित्वादनुमानमपि परिच्छिन्नमर्थं प्रापयत्प्रमाणमिति ।

तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।

तत्रेति सप्तम्यर्थे वर्तमानो निर्धारणे वर्तते । ततोऽयं वाक्यार्थः । तत्र तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिति समुदायनिर्देशः । प्रत्यक्षमित्येकदेशः[7] । तत्र समुदायात्प्रत्यक्षत्वजात्यैकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । तत्र प्रत्यक्ष[8]त्वमनूद्य कल्पनापोढत्वमभ्रान्तत्वं च[9] विधीयते । यत्तद्भवतामस्माकञ्चार्थेषु

---

१ 'द्वैविध्य' इति पाठः क० पुस्तके ख० पुस्तके च विद्यते । मुद्रितपुस्तकस्य सम्पादकस्य सम्मतौ 'द्विविधं' इति भवितव्यम् । अस्माकं मते तु प्रकृतः पाठः एव शोभनम् । २ 'अक्षाश्रितत्वेन' इत्यशुद्धः पाठः मुद्रितपुस्तकस्य । ३ ख० 'लभ्यते' । ४ ख० 'विज्ञानम्' । ५ कथ्यते । ६ ख० 'गृहीत०' । ७ ख० 'एकदेशनिर्देशः' । ८ क० 'प्रत्यक्ष' । ९ 'च' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

साक्षात्कारिज्ञानं प्रसिद्धं तत्कल्पनापोढा[1]भ्रान्तत्वयुक्तं द्रष्टव्यम् । न चैतन्मन्तव्यं कल्पनापोढाभ्रान्तत्वं चेदप्रसिद्धं किमन्यत्प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य रूपमवशिष्यते । यत्प्रत्यक्षशब्दवाच्यं [2]सदनूद्येतेति । यस्मादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां सिद्धम्[3] । तदनु[4]वादेन कल्पनापोढाभ्रान्तत्वविधिः । कल्पनाया अपोढम[5]पेतं कल्पनापोढम् । कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थः । अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपेऽवि[6]पर्यस्तमुच्यते । अर्थक्रियाक्षमं च[7] वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधिर्धर्मा[8]त्मकम् । तत्र यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम् । एतच्च लक्षणद्वयं विप्रतिपत्तिनिरा[9]करणार्थम् । न त्वनुमाननिवृत्त्यर्थम् । यतः कल्पनापोढग्रहणेनैवानुमानं निवर्तितम् । तत्रासत्यभ्रान्तग्रहणे गच्छद्वृक्षदर्शनादि प्रत्यक्षं कल्पनापोढत्वात्स्यात् । ततो हि प्रवृत्तेन वृक्षमात्रमवाप्यत इति संवादकत्वात्सम्यग्ज्ञानम् । कल्पनापोढत्वाच्च प्रत्यक्षमिति स्यादाशङ्का । तन्निवृत्त्यर्थमभ्रान्तग्रहणम् । तद्धि भ्रान्तत्वान्न प्रत्यक्षम् । त्रिरूपलिङ्गजत्वाभावाच्च नानुमानम् । न च प्रमाणान्तरमस्ति । अतो गच्छद्वृक्षदर्शनादि मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति । यदि मिथ्याज्ञानं कथं ततो वृक्षा[10]वाप्तिरिति चेत्, न ततो वृक्षावाप्तिः । नानादेशगामी हि वृक्षस्तेन परिच्छिन्नः एकदेशनियतश्च वृक्षोऽवाप्यते[11] । ततो यद्देशो गच्छद्वृक्षो दृष्टस्तद्देशो नावाप्यते । यद्देशश्चावाप्यते स न दृष्ट इति । न तस्मात्कश्चिदर्थोऽवाप्यते । ज्ञानान्तरादेव तु[12] वृक्षादिरर्थोऽवाप्यते । इत्येवमभ्रान्तग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्[13] । भ्रान्तं ह्यनुमानम् । [14]स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् । प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रूपे न विपर्यस्तम् । अपि त्वविसंवादकमभ्रान्तमिह ग्रहीतव्यम् । यतः सम्यग्ज्ञानमेव प्रत्यक्षम् । नान्यत् ।

तत्र सम्यग्ज्ञानत्वादेवाविसम्वादकत्वे लब्धे पुनरविसम्वादकग्रहणं

---

१ ख० तत्कल्पनापोढभ्रान्तत्व० । २ प्रकटीक्रियेत । ३ ख० प्रसिद्धं । ४ ख० तदनकल्पना० । ५ रहितम् । ६ अविरुद्धम् । ७ 'च' इति पदं क० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ८ क० ख० वर्णात्मकम् । ९ ख० निरासार्थम् । १० प्राप्तिर्ज्ञप्तिरित्यर्थः । ११ प्राप्यते ज्ञायत इत्यर्थः । १२ ख० च । १३ '(विप्रतिप्रत्तिनिरासार्थं) तथाऽभ्रान्तग्रहणेनाप्यनुमाने निवर्त्तिते कल्पनापोढग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्' इत्यधिको पाठो विद्यते ख० पुस्तक इति ज्ञातव्यम् । १४ ख० स्वप्रतिभासो (? स्वप्रतिभासे) र्थेर्थाध्यवसायेन ।

निष्प्रयोजनमेव । एवं हि वाक्यार्थः स्यात् । प्रत्यक्षाख्यं यदविसम्वादकं ज्ञानं तत्कल्पनापोढमविसम्वादकं चेति । न चानेन द्विरविसम्वादग्रहणेन किञ्चित् । तस्माद्ग्राह्येऽर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपे यदविपर्यस्तं तदभ्रान्तमिह वेदितव्यम्[1] ।

कीदृशी पुनः कल्पनेह गृह्यत इत्याह—

अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना तथा रहितम् ।

अभिला[2]प्यतेऽनेनेति अभिलापो वाचकः शब्दः । अभिलापेन संसर्गः [3]अभिलापसंसर्गः । एकस्मिञ्ज्ञानेऽभिधेयाकारस्याभिधानाकारेण सह ग्राह्याकारतया शीलनम्[4] । ततो यदेकस्मिञ्ज्ञानेऽभिधेया[5]भिधानयोराकारौ संनिविष्टौ[6] भवतस्तदा संसृष्टेऽभिधानाभिधेये भवतः । अभिलापसंसर्गाय योग्योऽभिधेया[7]भासो यस्यां प्रतीतौ सा तथोक्ता । तत्र काचित्प्रतीतिरभिलापे[8]न संसृष्टाभासा भवति । यथा व्युत्पन्नसंकेतस्य घटार्थकल्पना घटशब्दसंसृष्टार्थावभासा भव[9]ति । काचित्त्वभिलापेनासंसृष्टाऽप्यभिलापसंसर्गयोग्याभासा भवति । यथा बालकस्याव्युत्पन्नसंकेतस्य कल्पना । तत्राभि[10]लापसंसृष्टाभासा कल्पनेत्युक्तावव्युत्पन्नसङ्केतस्य न संगृह्यते[11] । योग्यग्रहणे तु साऽपि संगृह्यते । यद्यप्यभिलापसंसृष्टाभासा[12] न भवति तदहर्जातस्य [13]बालकस्य कल्पना अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा तु भवत्येव । या चाभिलापसंसृष्टा साऽपि योग्या । तत [14]उभयोरपि योग्यग्रहणेन सङ्ग्रहः ।

असत्यभिलापसंसर्गे कुतो [15]योग्यतावसितिरिति[16] चेत् । अनियतप्रतिभासत्वात् । अनियतप्रतिभासत्वं[17] च प्रतिभासनियमहेतोरभावात् । ग्राह्यो ह्यर्थो विज्ञानं जनयन्नियतप्रतिभासं कुर्यात् । यथा रूपं चक्षुर्विज्ञानं जनय-

---

१ ज्ञातव्यम् । २ ख० अभिलप्यते । ३ 'अभिलापसंसर्गः' इति पदं क० पुस्तके न विद्यते । ४ क० ख० मीलनम् । ५ ख० अभिधानाभिधेययोः । ६ ख० निविष्टौ । ७ ख० अभिधेयाकारभासः । ८ ख० अभिलाप० । ९ 'भवति' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते । १० संसृष्टाभासा, ख० संसृष्टप्रभासा (? ० संसृष्टप्रतिभासा) । ११ ख० संगृह्यते । १२० आभासा, ख० प्रतिभासा । १३ इदं पदं क० पुस्तके न विद्यते । १४ अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासाऽभिलापसंसृष्टयोः । १५ योग्यता, ख० योग्यत्व० । १६ स्थानम् । १७ प्रतिभासत्वे ।

न्नियतप्रतिभासं जनयति । विकल्पविज्ञानं त्वर्थान्नोत्पद्यते। ततः प्रतिभास-नियमहेतोरभावादनियतप्रतिभासम् ।

कुतः पुनरेतद्विकल्पोऽर्थान्नोत्पद्यत इति । अर्थसंनिधिनिरपेक्षत्वात् । बालोऽपि हि यावद्दृश्यमानं स्तनं स एवायमिति पूर्वदृष्टत्वेन न प्रत्यवमृशति[2] तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने । पूर्वदृष्टापरदृष्टं चार्थमेकीकुर्वद्विज्ञानमसन्निहितविषयम् । पूर्वदृष्टस्यासन्निहितत्वात् । असन्निहित-विषयं चार्थनिरपेक्षम् । अनपेक्षं च प्रतिभासनियमहेतोरभावादनियत-प्रतिभासम् । तादृशं चाभिलापसंसर्गयोग्यम् । इन्द्रियविज्ञानं तु सन्निहि-[3]तमात्रग्राहित्वादर्थसापेक्षम् । अर्थस्य च प्रतिभासनियमहेतुत्वान्नियतप्रति-भासम् । ततो नाभिलापसंसर्गयोग्यम् । अत एव स्वलक्षणस्यापि वाच्य-वाचकभावमभ्युपगम्यैतदविकल्पकत्वमुच्यते ।

यद्यपि हि स्वलक्षणमेव वाच्यं वाचकं च भवेत्तथाप्यभिलापसंसृष्टार्थं विज्ञानं सविकल्पकम् । न चेन्द्रियविज्ञानमर्थेन नियमितप्रतिभासत्वाद-भिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं भवतीति निर्विकल्पकम् । श्रोत्रज्ञानं[4] तर्हि शब्दस्वलक्षणग्राहि[5] । शब्दस्वलक्षणं[6] किञ्चिद्वाच्यं किञ्चिद्वाचकमित्यभिलाप-संसर्गयोग्यप्रतिभासं स्यात् । तथा च सविकल्पकं स्यात् । नैष दोषः । सत्यपि स्वलक्षणस्य वाच्यवाचकभावे सङ्केतकालदृष्टत्वेन गृह्यमाणं स्वलक्षणं वाच्यं वाचकं च गृहीतं स्यात् । न च सङ्केतकालभाविदर्शनविषयत्वं वस्तुनः सम्प्रत्यस्ति ।

यथा हि सङ्केतकालभाविदर्शनमद्य निरुद्धं तद्वत्तद्विषयत्वमप्यर्थस्याद्य नास्ति । ततः पूर्वकालदृष्टत्वमपश्यच्छ्रोत्रज्ञानं[7] न वाच्यवाचकभावग्राहि । अनेनैव न्यायेन योगिज्ञानमपि सकलशब्दार्थावभासित्वेऽपि सङ्केतकाल-दृष्टत्वाग्रहणान्निर्विकल्पकम् । तया कल्पनया कल्पनास्वभावेन रहितं शून्यं सज्ज्ञानं यदभ्रान्तं तत्प्रत्यक्षमिति परेण[8] सम्बन्धः । कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वे परस्परसापेक्षे प्रत्यक्षलक्षणं न प्रत्येकमिति दर्शयितुं तया रहितं यदभ्रान्तं तत्प्रत्यक्षमिति लक्षणयोः परस्परसापेक्षयोः प्रत्यक्षविषयत्वं दर्शितमिति ।

---

१ विकल्पविज्ञानम् । २ स्मरति । ३ सन्निहितमात्र० ख० संनिहितार्थमात्र० । ४ ख० श्रोत्रविज्ञानं । ५ 'शब्द०' इति पाठः ख० पुस्तके न विद्यते । ६ शब्दस्वलक्षणं, ख० शब्दे स्वलक्षणं च । ७ ज्ञानं, ख० विज्ञानं । ८ ख० पुस्तके 'सूत्रेण (लिखित-पुस्तके मूत्रेण)' इत्यधिकः पाठो विद्यते ।

तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं
ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

तिमिरमक्ष्णोर्विप्लवः[1] । इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम्[2] । आशुभ्रमणमलातादेः । मन्दं हि[3] भ्रम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते । तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्[5] । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यत इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादि[6]भ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्मगतं[7] विभ्रमकारणम् । सर्वैरेव च विभ्रमकारणैरिन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्त्तव्यम् । अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियार्थभ्रान्त्ययोगात्[8] । एते संक्षोभपर्यन्ता आदयो येषां ते तथोक्ताः । आदिग्रहणेन काचकामलादय इन्द्रियस्था गृह्यन्ते । आशुनयनानयनादयो विषयस्थाः । आशुनयनानयने हि[9] [10]कार्यमाणेऽलातादावग्निवर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति । हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्था गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते । [11]तैरनाहितो[12] विभ्रमो यस्मिंस्तत्तथाविधं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

तदेवं लक्षणमाख्याय यैरिन्द्रियमेव द्रष्टृ कल्पितं मानसप्रत्यक्षलक्षणे च दोष उद्भावितः स्वसंवेदनं च नाभ्युपगतं योगिज्ञानं च तेषां विप्रति[13]पत्तिनिराकरणार्थं प्रकारभेदं प्रत्यक्षस्य दर्शयन्नाह—

तच्चतुर्विधम् ।

इन्द्रियज्ञानम् ।

इन्द्रियस्य ज्ञानमिन्द्रियज्ञानम् । इन्द्रियाश्रितं यत्तत्प्रत्यक्षम् ।

---

१ नेत्रयोः । २ ख० भ्रम० । ३ 'हि' इति पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । ४ ख० भ्राम्यमाणे । ५ क० भ्रम० । ६ ज्वलित०, ख० ज्वलितरूपं । ७ ख० आध्यात्मिकं भ्रान्तिकारणम् । ८ 'इन्द्रिय' इति पाठः ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ९ 'हि' इति पदं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । १० ख० अलाते । ११ ख० एतैः । १२ अनाहितः दूरी कृतः । १३ ख० निरासार्थम् ।

मानसप्रत्यक्षे[1] परैर्यो[2] दोष उद्भावितस्[3]तं निराकर्त्तुं मानसप्रत्यक्षलक्षणमाह—

स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ।

स्व आत्मीयो विषय इन्द्रियज्ञानस्य[4] तस्यानन्तरः । न विद्यतेऽन्तरमस्येत्यनन्तरः[5] । अन्तरं च व्यवधानं विशेषश्चोच्यते । ततश्चान्तरे प्रतिषिद्धे समानजातीयो द्वितीयक्षणभाव्युपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्य गृह्यते । तथा च सतीन्द्रियज्ञानविषयक्षणादुत्तरक्षण एकसन्तानान्तर्भूतो गृहीतः । स सहकारी यस्येन्द्रियविज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । द्विविधश्च सहकारी । परस्परोपकारी एककार्यकारी च । इह च क्षणिके वस्तुन्यतिशयाधानायोगादेककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते । विषयविज्ञानाभ्यां हि मनोविज्ञानमेकं[6] क्रियते यतस्तदनयोर्न परस्परसहकारित्वम्[7] । ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेनालम्बनप्रत्ययभूतेनापि योगिज्ञानं जन्यते । तन्निरासार्थं समनन्तरप्रत्ययग्रहणं कृतम्[8] । समश्चासौ ज्ञानत्वेनानन्तरश्चासावव्यवहितत्वेन स चासौ[9] प्रत्ययश्च हेतुत्वात्समनन्तरप्रत्ययस्तेन जनितम् ।

तदनेनैकसन्तानान्तर्भूतयोरेवेन्द्रियज्ञानमनोज्ञानयोर्जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तं[10] भवति । ततो योगिज्ञानं परसन्तानवर्ति निरस्तम्[11] । यदा चेन्द्रियज्ञानविषयादन्यो विषयो मनोविज्ञानस्य तदा गृहीतग्रहणादासञ्जितो[12]ऽप्रामाण्यदोषो निरस्तः । यदा चेन्द्रियज्ञानविषयोपादेयभूतः क्षणो गृहीतस्तदेन्द्रियज्ञानेनागृहीतस्य विषयान्तरस्य ग्रहणादन्धबधिराद्यभावदोषप्रसंगो निरस्तः । एतच्च मनोविज्ञानमुपरतव्यापारे चक्षुषि प्रत्यक्षमिष्यते । व्यापारवति तु चक्षुषि यद्रूपज्ञानं तत्सर्वं चक्षुराश्रितमेव । इतरथा चक्षुराश्रितत्वानुपपत्तिः कस्यचिदपि विज्ञानस्य[13] ।

---

१ ख० मानसे च प्रत्यक्षे । २ अन्यवादिभिः । ३ प्रकटीकृतः । ४ ख० विज्ञानस्य । ५ 'अनन्तरः' इति पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । ६ विषयविज्ञानाभ्यां हि मनोविज्ञानं, ख० विषयविज्ञानाभ्यां मनोविज्ञानाभ्यां मनोविज्ञानम् । ७ तदनयोर्न परस्परसहकारित्वं, ख० तदनयोः परस्परस्य सहकारित्वम् । ८ 'कृतम्' इति पदं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ९ इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते । १० 'इति' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते । ११ अपाकृतं खण्डितमित्यभिप्रायः । १२ प्राप्तः । १३ ख० ज्ञानस्य ।

एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम् । न त्वस्य प्रसाधकमस्ति प्रमाणम् । एवं जातीयकं तद्यदि स्यान्न कश्चिद्दोषः स्यादिति वक्तुं लक्षणमाख्यातमस्येति ।

स्वसंवेदनमाख्यातुमाह—

सर्वचित्तचैत्ता[1]नामात्मसंवेदनम् ।

चित्तमर्थमात्रग्राहि । चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः । सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ताः । सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात्स्वसंविदिताः । नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम् । नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात् । येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् । इह च रूपादौ वस्तुनि दृश्यमानेऽन्तरः सुखाद्याकारस्तुल्यकालं संवेद्यते । न च गृह्यमाणाकारो नीलादिः सातादिरूपो वेद्यते इति वक्तुं शक्यम्[2] । यतो नीलादिः सातरूपेणा[3]नुभूयत इति न निश्चीयते । यदि हि सातादिर्रूपो[4]ऽयं नीलादिरनुभूयत इति निश्चीयेत स्यात्तदा[5] तस्य सातादिरूपत्वम् । यस्मिन्रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत्प्रत्यक्षम् । न च नीलस्य सातरूपत्वमनुगम्यते । तस्मादसातान्नीलाद्यर्थादन्यदेव सातमनुभूयते नीलानुभवकाले । तच्च ज्ञानमेव । ततोऽस्ति ज्ञानानुभवः । तच्च[6] ज्ञानरूपं वेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तस्मात्प्रत्यक्षम् ।

योगिप्रत्यक्षं व्याख्यातुमाह—

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।

भूतः सद्भूतोऽर्थः । प्रमाणेन दृष्टश्च सद्भूतः । यथा चत्वार्या-

---

१ बाह्यार्थास्तित्ववादिनां सौत्रान्तिकानां मते वस्तु द्विविधम् । बाह्यमान्तरञ्च । बाह्यं पुनर्द्विविधम् । भूतं भौतिकञ्च । आन्तरमपि द्विविधम् । चित्तं चैत्तञ्च । चैत्तं चैत्तिकमपि कथ्यते । भूतं पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवः । भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च । चित्तं विज्ञानम् । चैत्तिकं रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः । विज्ञानं पुनर्द्विविधम् । आलयविज्ञानमहमित्याकारकम् । प्रवृत्तिविज्ञानमिन्द्रियादिजन्यं रूपादिविषयम् । २ वक्तुं शक्यं, ख० शक्यं वक्तुं । ३ सातरूपेण, ख० सातानुरूपेण । ४ सातादिरूपः, ख० सतरूपः । ५ 'तदा' इति पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । ६ तच्च ज्ञानरूपं वेदनं, ख० तत्त्वज्ञानस्वरूपवेदनम् ।

र्यसत्यानि[1]। भूतार्थस्य भावना पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनम्[2]। भावनायाः[3] प्रकर्षो भाव्यमानार्थाभासस्य[4] ज्ञानस्य स्फुटाभत्वारम्भः। प्रकर्षस्य पर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वमीषदसम्पूर्णं भवति। यावद्धि स्फुटाभत्वमपरिपूर्णं तावत्तस्य प्रकर्षगतिः[5]। सम्पूर्णं तु यदा तदा नास्ति प्रकर्षगतिः। ततः सम्पूर्णावस्थायाः प्राक्तन्यवस्था स्फुटाभत्वप्रकर्षपर्यन्त उच्यते। तस्मात्पर्यन्ताद्यज्ज्ञातं भाव्यमानस्य संनिहितस्येव स्फुटतराकारग्राहि ज्ञानं योगिनः प्रत्यक्षम्। तदिह स्फुटाभत्वारम्भावस्था भावनाप्रकर्षः। अभ्रकव्यवहितमिव यदा भाव्यमानं वस्तु पश्यति सा प्रकर्षपर्यन्तावस्था। करतलामलकवद्भाव्यमानस्यार्थस्य यद्दर्शनं तद्योगिनः प्रत्यक्षम्। तद्धि स्फुटाभम्। स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पकम्। विकल्पविज्ञानं हि संकेतकालदृष्टत्वेन वस्तु गृह्णच्छब्दसंसर्गयोग्यं गृह्णीयात्। संकेतकालदृष्टत्वं च संकेतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम्[6]। यथा च पूर्वोत्पन्नं विनष्टं ज्ञानं सम्प्रत्यसत्। तद्वत्पूर्वविनष्टज्ञानविषयत्वमपि सम्प्रति नास्ति वस्तुनः। तदसद्रूपं वस्तुनो गृह्णदसंनिहितार्थ[7]ग्राहित्वादस्फुटाभम्। अस्फुटाभत्वादेवं[8] च सविकल्पकम्। ततः स्फुटाभत्वान्निर्विकल्पकम्। प्रमाणशुद्धार्थग्राहित्वाच्च संवादकम्। अतः प्रत्यक्षम्। इतरप्रत्यक्षवत्। योगः समाधिः। स यस्यास्ति स योगी। तस्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्। इति शब्दः परिसमाप्त्यर्थः[9]। इयदेव प्रत्यक्षमिति।

तदेवं प्रत्यक्षस्य कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वयुक्तस्य प्रकारभेदं प्रतिपाद्य विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—

तस्य विषयः स्वलक्षणम्।

तस्य [10]चतुर्विधप्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्यः। स्वलक्षणम्। स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। वस्तुनो ह्यसाधारणं च तत्त्वमस्ति सामान्यं च।

---

१ चत्वार्यार्यसत्यानि दुःखसमुदयनिरोधमार्गसंज्ञकानि। २ विनिवेशनं स्थापनम्। ३ 'भावनायाः' इत्यस्य स्थाने ख० पुस्तकस्य 'भावनयो' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते। ४ आभासस्य, ख० अवभासस्य। ५ गतिः, ख० गमनम्। ६ यस्मिन् काले संकेत उत्पद्यते तस्मिन्नेव काले तस्य ज्ञानविषयत्वं संकेतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम्। ७ 'अर्थ' इति पाठः ख० पुस्तके न विद्यते। ८ 'एव च' इति पाठः ख० पुस्तक एवोपलभ्यते। ९ परिसमाप्त्यर्थः, ख० परिसमाप्तिवचनम्। १० चतुर्विध०, ख० चतुर्विधस्य।

यदसाधारणं तत्प्रत्यक्षग्राह्यम् । द्विविधो हि प्रमाणस्य[1] विषयो ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते । प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति[2] । अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चा[3]ध्यवसेयः । प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः । अध्यवसेयस्तु[4] प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन संतान एव । संतान[5] एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः । क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात्[6] । तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽनर्था[7]ध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि । स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतस्ततः स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य । अनर्थस्तु ग्राह्यः । तदत्र प्रमाणस्य ग्राह्यं विषयं दर्शयता प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषय उक्तः ।

कः पुनरसौ विषयो ज्ञानस्य यः स्वलक्षणं प्रतिपत्तव्य[8] इत्याह—

यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणम् ।

अर्थशब्दो विषयपर्यायः । यस्य ज्ञानविषयस्य । सन्निधानं निकटदेशावस्थानम् । असन्निधानं दूरदेशावस्थानम् । तस्मात्सन्निधानादसन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य ग्राह्याकारस्य भेदः स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्याम् । यो हि ज्ञानस्य[9] विषयः सन्निहितः सन्[10]स्फुटमाभासं ज्ञानस्य करोति । असन्निहितस्तु योग्यदेशावस्थित एवास्फुटं करोति तत्स्वलक्षणम् । सर्वाण्येव हि वस्तूनि दूरादस्फुटानि दृश्यन्ते । समीपे स्फुटानि । तान्येव स्वलक्षणानि ।

---

१ प्रमाणस्य विषयः, ख० विषयः प्रमाणस्य । २ अध्यवस्यति ज्ञास्यतीत्यर्थः । ३ बौद्धनये विज्ञानमर्थजनितमर्थाकारमर्थस्य ग्राहकम् । तदुत्पत्तिमन्तरेण विषयं प्रति नियमायोगात् । घटज्ञानं घटादेवोत्पद्यत इत्यर्थः । जनितत्वं विज्ञानस्य प्रमाणस्य वा । प्रमाणस्य ग्राह्यो विषय एव तस्यार्थाकारत्वम् । तस्य प्रापणीयो विषय एव तस्यार्थग्राहकत्वम् । ४ अध्यवसेयोऽर्थः । ५ बौद्धमते यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम् । यदेकस्मिन् क्षणे विद्यते तद्द्वितीये क्षणे विनश्यते । जीवस्य विषयेऽपि त इत्थमेव प्राहुः । एकस्मिन् प्राणिन्येकस्मिन्क्षणे यो जीवो विद्यते स क्षणान्तरमेव विनश्यते । द्वितीयक्षणे तस्य सन्तानमात्रमवशिष्यते । आदानप्रदानादीनां स्मृतिरूपव्यवहारस्तु संस्काराज्जायते । ६ न कोऽपि प्रत्यक्षेण क्षणं प्रापयितुं शक्यः । तस्यात्यन्तसूक्ष्मत्वात् । अत एवाविद्याप्रत्ययेन पूर्ववदिवावभासयन्सन्तान एव प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः । ७ अनर्थाध्यवसायेन, ख० अर्थाध्यवसायेन । ८ ज्ञातव्यः । ९ ज्ञानस्य, ख० ज्ञान० । १० सन्, ख० स ।

कस्मात्पुनः प्रत्यक्षविषय एव स्वलक्षणम् । तथा हि विकल्पविषयोपि बहिर्दृश्यात्मक एवावसीयत[1] इत्याह—

तदेव परमार्थसत् ।

परमार्थोऽकृत्रिममनारोपितं रूपम् । तेनास्तीति परमार्थसत् । य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन्स एव । स एव[2] च प्रत्यक्षविषयो यतस्तस्मात्तदेव स्वलक्षणम् ।

कस्मात्पुनस्तदेव परमार्थसदित्याह—

अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः ।

अर्थ्यत इत्यर्थः । हेय उपादेयश्च । हेयो हि हातुमिष्यत उपादेयश्चोपादातुम् । अर्थस्य प्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्तिस्तस्यां सामर्थ्यं शक्तिस्तदेव लक्षणं रूपं यस्य वस्तुनस्तदर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणम् । तस्य भावः । तस्माद्वस्तु शब्दः परमार्थसत्पर्यायः । तदयमर्थो यस्मादर्थक्रियासमर्थं परमार्थसदुच्यते सन्निधानासन्निधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदकोऽर्थोऽर्थक्रियासमर्थः । तस्मात्स एव परमार्थसत् । तत एव हि प्रत्यक्षविषयादर्थक्रिया प्राप्यते । न विकल्पविषयात् । अत एव यद्यपि विकल्पविषयो दृश्य इवावसीयते तथापि न दृश्य एव । ततोऽर्थक्रियाभावात् । दृश्याच्च भावात् । अतस्तदेव स्वलक्षणं न विकल्पविषयम्[3] ।

अन्यत्सामान्यलक्षणम् ।

एतस्मात्स्वलक्षणाद्यदन्यत्स्वलक्षणं यो न भवति ज्ञानविषयस्तत्सामा[4]न्यलक्षणम् । विकल्पविज्ञानेनावसीयमानो[5] ह्यर्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासं न भिनत्ति । तथा ह्यारोप्यमाणो वह्निरारोपादस्ति । आरोपाच्चदूरस्थो निकटस्थश्च । तस्य समारोपितस्य सन्निधानादसन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य न भेदः स्फुटत्वेनास्फुटत्वेन वा । ततः स्वलक्षणादन्य उच्यते । सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम् । साधारणं रूप-

---

१ निश्चीयते । २ 'एव' इति पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । ३ यदेवार्थक्रियाकारी तदेव परमार्थसत् । नित्यं नार्थक्रियाकारी तन्न तत्परमार्थसत् । ४ तत्सामान्यलक्षणम्, ख० तस्मात्सामान्यलक्षणम् । ५ नीश्चीयमानः ।

मित्यर्थः । समारोप्यमाणं हि रूपं सकलवह्निसाधारणम् । ततस्तत्सामान्यलक्षणम् ।

तच्चानुमानस्य ग्राह्यं दर्शयितुमाह—

सोऽनुमानस्य विषयः ।

सोऽनुमानस्य विषयो ग्राह्यरूपः । सर्वनाम्नोऽभिधेयवल्लिङ्गपरिग्रहः । सामान्यलक्षणम् । अनुमानस्य विषयं व्याख्यातुकामेनायं स्वलक्षणस्वरूपाख्यानग्रन्थ आवर्त्तनीय[2]: स्यात् । ततो लाघवार्थं प्रत्यक्षपरिच्छेद एवानुमानविषय उक्तः ।

विषयविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—

तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।

यदेवानन्तरमुक्तं प्रत्यक्षं तदेव प्रमाणस्य फलम् । कथं प्रमाणफलमित्याह । अर्थस्य प्रतीतिरवगम[3]: । सैव रूपं यस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य तदर्थप्रतीतिरूपम् । तस्य भावः । तस्मादेतदुक्तं भवति । प्रापकं ज्ञानं प्रमाणं । प्रापणशक्तिश्च न केवलादर्थाविनाभावित्वाद्भवति । बीजाद्यविनाभाविनोऽप्यङ्कुरादेरप्रापकत्वात् । तस्मादर्था[4]दुत्पत्तावप्यस्य ज्ञानस्यास्ति कश्चिदवश्यकर्त्तव्यः प्रापकव्यापारः । येन कृतेनार्थः प्रापितो भवति । स एव च प्रमाणफलम् । यदनुष्ठानात्प्रापकं भवति ज्ञानम् । उक्तं च पुरस्तात्प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनमेव प्रापकस्य प्रापकव्यापारो नाम । तदेव च प्रत्यक्षमर्थप्रतीतिरूपमर्थद[5]र्शनरूपम् । अतस्तदेव प्रमाणफलम् ।

यदि तर्हि ज्ञानं प्रमितिरूपत्वात्प्रमाणफलं किं तर्हि प्रमाणमित्याह—

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं ।

अर्थेन सह यत्सारूप्यं सा[6]दृश्यमस्य ज्ञानस्य तत्प्रमाणमिह । यस्माद्विषयाज्ज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तद्भवति । यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम् । तच्च सारूप्यं सादृश्यमाकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते[10] ।

---

१ ततस्तत्सामान्यलक्षणम् , ख० ततस्तस्मात्सामान्यलक्षणम् । २ पुनः कथनीयः स्यात् । ३ अवगमो ज्ञानम् । ४ अर्थात्, ख० प्राथादर्थात् । ५ अर्थदर्शन०, ख० अर्थप्रदर्शन० । ६ सादृश्यम् , ख० यत्सादृश्यम् । ७ ज्ञानं, ख० विज्ञानम् । ८ विज्ञानमर्थजनितमर्थाकारमर्थस्य च ग्राहकमिति यदुक्तं पुरस्तादस्माभिः । ९ 'सारूप्यम्' इति पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । १० कथ्यते ।

ननु च ज्ञानादव्यतिरिक्तं सादृश्यम् । तथा च सति तदेव ज्ञानं प्रमाणम् । तदेव प्रमाणफलम् । न चैकं वस्तु साध्यं साधनं चोपपद्यते । तत्कथं सारूप्यप्रमाणमित्याह—

तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ।

तदिति सारूप्यं तस्य वशात्सारूप्यसामर्थ्यात् । अर्थस्य प्रतीतिरवबोधस्तस्याः सिद्धिः । तत्सिद्धेः[1] कारणात् । अर्थस्य प्रतीतिरूपं प्रत्यक्षं विज्ञानं सारूप्यवशात्सिध्यति प्रतीतं भवतीत्यर्थः । नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतस्तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते । येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो विज्ञान[2]मुत्पद्यते न तद्वशात्तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुम् । नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते । न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः येनैकस्मिन्वस्तुनि विरोधः स्यात्[3] । अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन । तत एकस्य वस्तुनः किंचिद्रूपं प्रमाणं किंचित्प्रमाणफलं न विरुध्यते । व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यम् । तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम् । व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावोऽपि कथमेकस्य ज्ञानस्येति[4] चेदुच्यते । सदृशमनुभूयमानं तद्विज्ञानम् । यतो नीलस्य ग्राहकमवस्थाप्यते निश्चयप्रत्ययेन । तस्मात्सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनहेतुः । निश्चयप्रत्ययेन च तज्ज्ञानं नीलसंवेदनमवस्थाप्यमानं व्यवस्थाप्यम् । तस्मादसारूप्यव्यावृत्त्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापनहेतुः । अनीलबोधव्यावृत्त्या च नीलबोधरूपत्वं व्यवस्थाप्यम् । व्यवस्थापकश्च विकल्पप्रत्ययः प्रत्यक्षबलोत्पन्नो द्रष्टव्यः ।

ननु निर्विकल्पकत्वात्प्रत्यक्षमेव नीलबोधरूपत्वेनात्मानमवस्थापयितुं शक्नोति । निश्चयप्रत्ययेनाव्यवस्थापितं सदपि नीलबोधरूपं विज्ञानमसत्कल्पमेव । तस्मान्निश्चयेन नीलबोधरूपं व्यवस्थापितं विज्ञानं नीलबोधात्मना सद्भवति । तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति ।

---

१ तत्सिद्धेः, ख० ततः सिद्धेः । २ विज्ञानम्, ख० ज्ञानम् । ३ यत्र त्वेकस्मिन्नेव वस्तुनि जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावो भवति तत्र विरोध आपद्यते । अत्र तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावोऽस्ति । अत एवात्र न कश्चिद्विरोधः । ४ 'इति' इति पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते ।

अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापितं भवति विज्ञानम् । तथा च प्रमाणफलमर्थाधिगमरूपत्वम्[1]मनिष्पन्नम् । अतः साधकतमत्वाभावात्प्रमाणमेव न स्याज्ज्ञानम् । जनितेन त्वध्यवसायेन सारूप्यवशान्नीलबोधरूपे ज्ञानेऽवस्थाप्य[2]माने सारूप्यं व्यवस्थापनहेतुत्वात्प्रमाणं सिद्धं भवति । यद्येवमध्यवसायसहितमेव प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यान्न केवलमिति चेत् । नैतदेवम् । यस्मात्प्रत्यक्षबलोत्पन्नेनाध्यवसायेन दृष्टत्वेनाऽर्थोऽवसीयते नोत्प्रेक्षितत्वेन । द[3]र्शनं चार्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्षव्यापारः । उत्प्रेक्षणं तु[4] विकल्पव्यापारः । तथा हि परोक्षमर्थं विकल्पयन्त उत्प्रेक्षामहे न तु पश्याम इत्युत्प्रेक्षात्मकं विकल्पव्यापारमनुभवादवस्य[5]न्ति । तस्मात्स्वव्यापारं तिरस्कृत्य प्रत्यक्षव्यापारमादर्शयति । यत्रार्थे प्रत्यक्षपूर्वकोऽध्यवसायस्तत्र प्रत्यक्षं केवलमेव प्रमाणम् ॥

इति न्यायबिन्दुटीकायां प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः[6] ॥

१ रूपत्वं, ख० रूपम् । २ अवस्थाप्यमाने, ख० व्यवस्थाप्यमाने । ३ दर्शनं, ख० अदर्शनं (० त्वेनादर्शनं) । ४ 'तु' इति पाठो ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ५ अवस्यन्ति, ख० अध्यवस्यन्ति । ६ 'मङ्गलमस्तु' इत्यधिको पाठो विद्यते क० पुस्तके । ख० 'इति आचार्यधर्मोत्तरविरचितायां न्यायबिन्दुटीकायां प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।'

अथ द्वितीयपरिच्छेदः ।

एवं प्रत्यक्षं व्याख्यायानुमानं व्याख्यातुं[1]माह—

अनुमानं द्विधा ।

द्विप्रकारकम् । अथानुमानलक्षणे वक्तव्ये किमस्मात्प्रकारभेदः कथ्यते । उच्यते । परार्थानुमानं शब्दात्मकं स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम् । तयोरत्यन्तभेदा[2]न्नैकं लक्षणमस्ति । ततस्तयोः प्रतिनिय[3]तं लक्षणमाख्या[4]तुं प्रकारभेदः कथ्यते । प्रकारभेदो हि व्यक्तिभेदः । व्यक्तिभेदे च कथिते प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं शक्यते वक्तुम् । नान्यथा । ततो लक्षणनिर्देशा[5]ङ्गमेव प्रकारभेदकथनम् । अशक्यतां च प्रकारभेदकथनमन्तरेण लक्षणनिर्देशस्य ज्ञात्वा प्राक्प्रकारभेदः कथ्यत इति ।

किं पुनस्तद्वैविध्यमित्याह—

स्वार्थं परार्थं च ।

स्वस्मादिदं स्वार्थम् । येन स्वयं प्रतिपद्यते तत्स्वार्थम् । परस्मादिदं परार्थम् । येन परं प्रतिपादयति तत्परार्थम् ।

तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ।

तत्र तयोः स्वार्थपरार्थानुमानयोर्मध्ये स्वार्थं ज्ञानं किंविशिष्टमित्याह—त्रिरूपादिति । त्रीणि रूपाणि यस्य वक्ष्यमाणलक्षणानि तत्त्रिरूपम् । लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनार्थ इति लिङ्गम् । तस्मात्त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यज्जातं ज्ञानमिति । एतद्धेतुद्वारेण विशेषणम् । तत्त्रिरूपाच्च लिङ्गात्त्रिरूपालिङ्गालम्बनमप्युत्पद्यत इति विशिनष्टि । अनुमेय इति । एतच्च विषयद्वारेण विशेषणम् । त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदुत्पन्नमनुमेयालम्बनं ज्ञानं तत्स्वार्थमनुमानमिति ।

लक्षणविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—

प्रमाणफलव्यवस्थात्रापि प्रत्यक्षवत् ।

प्रमाणस्य यत्फलं तस्य या व्यवस्थात्रानुमानेऽपि प्रत्यक्षवत्प्र[6]त्यक्ष इव

---

1 व्याख्यातुकामः । 2 विभिन्नत्वात् । 3 निश्चितम् । 4 कथयितुम् । 5 निर्देशार्थमेव । 6 प्रत्यक्षवत्प्रत्यक्ष इव । लिखितपुस्तकयोः प्रत्यक्ष इव प्रत्यक्षवत् । सम्भवतोऽनावश्यकतयायं पाठः न संस्कृतः ।

वेदितव्या। यथा हि नीलसरूपं प्रत्यक्षमनुभूयमानं नीलबोधरूपमवस्थाप्यते। तेन नीलसारूप्यं व्यवस्थापनहेतुः प्रमाणम्। नीलबोधरूपं तु व्यवस्थाप्यमानं प्रमाणफलम्। तद्वदनुमानं नीलाकारमुत्पद्यमानं नीलबोधरूपमवस्थाप्यते। तेन नीलसारूप्यमस्य प्रमाणम्। नीलविकल्पनरूपं त्वस्य प्रमाणफलम्। सारूप्यवशाद्धि तन्नीलप्रतीतिरूपं सिध्यति। नान्यथेति। एवमिह संख्यालक्षणफलविप्रतिपत्तयः। प्रत्यक्षपरिच्छेदे तु गोचरविप्रतिपत्तिर्निराकृता।

लक्षणनिर्देशप्रसङ्गेन तु त्रिरूपं लिङ्गं प्रस्तुतम्। तदेव[1] व्याख्यातुमाह—

त्रैरूप्यम् पुनः[2]

लिङ्गस्य यत्त्रैरूप्यं यानि त्रीणि रूपाणि तदिदमुच्यत इति शेषः।

किं पुनस्तत्[3]त्रैरूप्यमित्याह—

लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव।

अनुमेयं वक्ष्यमाणलक्षणम्। तस्मिँल्लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमेकं रूपम्। यद्यपि चात्र निश्चितग्रहणं न कृतं तथाप्यन्ते कृतं प्रक्रान्तयोर्द्वयोरपि रूपयोरपेक्षणीयम्। यतो न योग्यतया लिङ्गं परोक्षज्ञानस्य निमित्तम्। यथा बीजमङ्कुरस्य। अदृष्टाद्धूमादग्नेरप्रतिपत्तेः। नापि स्वविषयज्ञानापेक्षं परोक्षार्थप्रकाशनम्। यथा प्रदीपो घटादेः। दृष्टादप्यनिश्चितसम्बन्धादप्रतिपत्तेः। तस्मात्परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य परोक्षार्थप्रतिपादनव्यापारः। नापरः कश्चित्। अतोऽन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वनिश्चयो लिङ्गव्यापारात्मकत्वादवश्यकर्त्तव्य इति सर्वेषु रूपेषु निश्चितग्रहणमपेक्षणीयम्। तत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम्[4]। एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धः निरस्तो हेतुः[5]। यथा चेतनास्तरवः स्वापादिति। पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसंकोचलक्षणः स्वाप एकदेशेन सिद्धः। न हि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्रसंकोचभाजः। किं तु केचिदेव। सत्ववचनस्य पश्चात्कृते-

---

१ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते। २ यद्यपि सूत्रमिदमपरिपूर्णमिवावलोक्यते, तथापि नात्र द्वितीयं सूत्रं स्थापयितुं शक्नुमस्तावन्मात्रस्यैव त्रैरूप्यस्वाभावात्। ३ 'तत्' इति पदं क० पुस्तके नैवोपलभ्यते। ४ निरस्तम्, ख० निबिद्धम्। ५ 'निरस्तो हेतुः' इति पाठः ख० पुस्तक एव विद्यते।

नैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः। यदि ह्यनुमेय एव सत्त्वमिति कुर्या[1]च्छ्रावणत्वमेव हेतुः स्यात्। निश्चितग्रहणेन संदिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः।

सपक्ष एव सत्त्वम्।

सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः। तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चितं द्वितीयं रूपम्। इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः। स[2] हि नास्ति सपक्षे। एवकारेण साधारणानैकान्तिकः। अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्[3]। स[4] हि न सपक्ष एव वर्तते किं तूभयत्रापि[5]। सत्त्वग्रहणात्पूर्वावधारणवचनेन सपक्षव्यापि[6]सत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम्। पश्चादवधारणे त्वयम्[7]अर्थः स्यात्। सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात्। निश्चित[8]वचनेन संदिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः। यथा सर्वज्ञः कश्चिद्वक्तृत्वात्[9]। वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे संदिग्धम्।

असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्।

असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः। तस्मिन्नसत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम्। तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः। विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति। एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः। नित्य[10]ः शब्दः कृतकत्वात् खवत्[11]। प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये ह्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्त्याकाशादौ नास्ति। ततो नियमेनास्य निरासः। [12]असत्त्ववचनात्पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमर्थः स्यात्। विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः। तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि[13] सर्वत्र नास्ति। ततो न हेतुः स्यात्। ततः पूर्वं न कृतम्। निश्चितग्रहणेन संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः।

---

१ कुर्यात्, ख० ब्रूयात्। २ विरुद्धः। ३ वाक्यमिदं ख० पुस्तक एवोप लभ्यते। ४ साधारणानैकान्तिकः। ५ पक्षे सपक्षे च। ६ क० पुस्तके 'सपक्षव्यापिसत्ताकस्य' इत्यस्य स्थाने 'सपक्षऽव्यापिसत्ताकस्य' इति पाठो विद्यते। यच्च मुद्रितपुस्तकस्य सम्पादकस्य सम्मतौ 'सपक्ष' इत्यस्य 'सपक्षा' इति संस्कृतरूपोऽस्ति। अस्माकं सम्मतौ तु 'ऽ'इति चिह्नोऽसावधानतयैव केनचिल्लेखकेन प्रयुक्तः। ७ तु. क० हि। ८ निश्चितवचनेन, क० निश्चयवचनेन। ९ यद्यप्यमरकोशे 'सर्वज्ञस्सुगतो बुद्धो' इत्येवमादि लिखितमस्ति, तथापि प्रत्यक्षानुमानप्रमाणवादिनस्ते बौद्धाः न कश्चित्सर्वज्ञमामनन्ति। १० वाक्यमिदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते। ११ आकाशवत्। १२ असत्त्ववचनात्, ख० असत्त्वशब्दात्। १३ इदं पदं ख० पुस्तकेनैवोपलभ्यते।

ननु च सपक्ष एव सत्त्वमित्युक्ते विपक्षेऽसत्त्वमेवेति गम्यत एव। तत्किमर्थं पुनरुभयोरुपादानं कृतम्। तदुच्यते[1]। अन्वयो व्यतिरेको वा नियमवानेव प्रयोक्तव्यो नान्यथेति दर्शयितुं द्वयोरप्युपादानं[2] कृतम्। अनियमे[3] हि द्वयोरपि प्रयोगेऽयमर्थः स्यात्। सपक्षे योऽस्ति विपक्षे च नास्ति स हेतुरिति। तथा च सति स श्यामस्तत्पुत्रत्वाद्दृश्यमानपुत्रवदिति तत्पुत्रत्वं हेतुः स्यात्। तस्मान्नियमवतोरेवान्वयव्यतिरेकयोः प्रयोगः कर्त्तव्यः। येन प्रतिबन्धो गम्येत साधनस्य साध्येन। नियमवतोश्च प्रयोगेऽवश्यकर्त्तव्ये द्वयोरेक एव प्रयोक्तव्यो[4] न द्वाविति नियमवानेवान्वयो व्यतिरेको वा प्रयोक्तव्य इति शिक्षणार्थं द्वयोरुपादानमिति।

त्रैरूप्यकथनप्रसङ्गेनानुमेयः सपक्षो विपक्षश्चोक्तः। तेषां लक्षणं वक्तव्यम्, तत्र कोऽनुमेय इत्याह—

अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी।

अत्र हेतुलक्षणे[5] निश्चेतव्ये धर्म्यनुमेयः[6]। अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः[7]। व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय[8] इति दर्शयितुमत्रग्रहणम्। जिज्ञासितो ज्ञातुमिष्टो विशेषो धर्मो यस्य धर्मिणः स तथोक्तः।

कः सपक्षः—

साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः।

समानोऽर्थः सपक्षः। समानः सदृशो योऽर्थः पक्षेण स[9] सपक्ष उक्त उपचारात्। समानशब्देन विशेष्यते। समानः पक्षः सपक्षः। समानस्य च सशब्दादेशः। स्यादेतत्। किं तत्पक्षसपक्षयोः सामान्यं[10] येन समानः सपक्षः पक्षेणेत्याह। साध्यधर्मसामान्येनेति। साध्यश्चा-

१ तदुच्यते, ख० उच्यते। २ 'अपि' इति पदं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते। ३ अनियमे, ख० अनियते। ४ प्रयोक्तव्यः, क० कर्तव्यः। ५ स्वार्थानुमानलक्षणे। ६ 'पर्वतोऽयमग्निमान्धूमवत्त्वात्' इत्यस्मिन्ननुमाने धूमलक्षणोधर्मी वह्निरनुमेयः साध्यत्वात्। ७ 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' इत्यस्मिन्ननुमाने शब्दे नित्यत्वं साध्यते। अत एवात्र 'शब्दो नित्यः' इति समुदायोऽनुमेयः साध्यत्वात्। ८ 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः, यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति व्याप्तौ धूमसद्भावेऽग्निसद्भावो साध्यः। धूमोऽत्र वह्नेर्धर्मोऽस्ति। स एवात्र साध्यः। अत एव व्याप्तिनिश्चयकाले धर्मोऽनुमेयः। ९ इदं पदं क० पुस्तके न विद्यते। १० सामान्यम्, ख० साम्यम्।

सावसिद्धत्वाद्धर्मश्च पराश्रितत्वात्साध्यधर्मः । न च विशेषः साध्यः । अपि तु सामान्यम् । अत इह सामान्यं साध्यमुक्तम् । साध्यधर्मश्चासौ सामान्यं चेति साध्यधर्मसामान्येन समानः पक्षेण सपक्ष इत्यर्थः ।

कोऽसपक्ष इत्याह—

न सपक्षोऽसपक्षः ।

न सपक्षोऽसपक्षः । सपक्षो यो न भवति सोऽसपक्षः ।

कश्च सपक्षो न भवति—

ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति ।

ततः सपक्षादन्यः । तेन च[1] विरुद्धः । तस्य च सपक्षस्याभावः । सपक्षादन्यत्वं तद्विरुद्धत्वं[2] च न तावत्प्रत्येतुं शक्यं यावत्सपक्षस्वभावाभावो न विज्ञातः । तस्मादन्यत्वविरुद्धत्वप्रतीतिसामर्थ्यात्सपक्षाभावरूपौ प्रतीतावन्यविरुद्धौ । ततोऽभावः साक्षात्सपक्षाभावरूपः प्रतीयते । अन्यविरुद्धौ तु सामर्थ्यादभावरूपौ प्रतीयेते । ततस्त्रयाणामप्यसपक्षत्वम् ।

त्रिरूपाणि च ।

उक्तेन त्रैरूप्येण त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानीति चकारो वक्तव्यान्तरसमुच्चयार्थः । त्रैरूप्यमादौ पृष्टं त्रिरूपाणि च लिङ्गानि परेण ।

तत्र त्रैरूप्यमुक्तम् । त्रिरूपाणि चोच्यन्ते ।

त्रीण्येव च लिङ्गानि

त्रीण्येव त्रिरूपाणि लिङ्गानि । त्रयस्त्रिरूपलिङ्गप्रकारा इत्यर्थः ।

कानि पुनस्तानीत्याह—

अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति ।

प्रतिषेध्यस्य साध्यस्यानुपलब्धिस्त्रिरूपा । विधेयस्य साध्यस्य स्वभावस्त्रिरूपः । कार्यं च ।

---

१ 'च' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते । २ तद्विरुद्धत्वं, ख० च विरुद्धत्वम् ।

अनुपलब्धिमुदाहर्तुमाह—

तत्रानुपलब्धिर्यथा न प्रदेशविशेषे क्वचिद्घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।

यथेत्यादि । यथेत्युपप्रदर्शनार्थम् । यथेयमनुपलब्धिस्तथान्यापि । न त्वियमेवेत्यर्थः । प्रदेश एकदेशः । विशिष्यत इति विशेषः प्रतिपत्तृप्रत्यक्षः । तादृशश्च न सर्वः प्रदेशः । तदाह क्वचिदिति । प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे क्वचिदेव प्रदेश इति धर्मी । न घट इति साध्यम् । उपलब्धिर्ज्ञानम्[1] । तस्या लक्षणं जनिका सामग्री । तया ह्यनुपलब्धिर्लक्ष्यते । तत्प्राप्तोऽर्थो जनकत्वेन सामग्र्यन्तर्भावादुपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृश्य इत्यर्थः । तस्यानुपलब्धेरित्ययं हेतुः । अथ यो यत्र नास्ति स कथं तत्र दृश्यः । दृश्यत्वसमारोपादसन्नपि दृश्य उच्यते । यश्चैवं संभाव्यते यद्यसावत्र भवेद्दृश्य एव भवेदिति स तत्राविद्यमानोऽपि दृश्यः समारोप्यः । कश्चैवं संभाव्यः । यस्य समग्राणि स्वालम्बनदर्शनकारणानि भवन्ति । कदा च तानि समग्राणि गम्यन्ते । यदैकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरोपलम्भः । एकेन्द्रियज्ञानग्राह्यं लोचनादिप्रणिधानाभिमुखं वस्तुद्वयमन्योन्यापेक्षमेकज्ञानसंसर्गि कथ्यते[2] । तयोर्हि सतोर्नैकनियता भवति प्रतिपत्तिः । योग्यताया द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् । तस्मादेकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने सत्येकस्मिन्नितरत्समग्रदर्शनसामग्रीकं यदि भवेद्दृश्यमेव[3] भवेदिति संभावितं दृश्यमारोप्यते । तस्यानुपलम्भो दृश्यानुपलम्भः । तस्मात्स एव घटविविक्त[4]प्रदेशस्तदालम्बनं च ज्ञानं दृश्यानुपलम्भनिश्चयहेतुत्वाद्दृश्यानुपलम्भ उच्यते । यावद्ध्येकज्ञानसंसर्गि वस्तु[5] न निश्चितं तज्ज्ञानं च न तावद्दृश्यानुपलम्भनिश्चयः । ततो वस्त्वप्यनुपलम्भ उच्यते तज्ज्ञानं च । दर्शननिवृत्तिमात्रं तु स्वयमनिश्चितत्वादगमकम् । ततो[6] दृश्यघटरहितः प्रदेशस्तज्ज्ञानं च वचनसामर्थ्यादेव दृश्यानुपलम्भरूपमुक्तं द्रष्टव्यम् ।

---

१ उपलब्धिर्ज्ञानम् । तस्या लक्षणं जनिका सामग्री, क० उपलब्धिज्ञानं तस्य लक्षणं । जनिका सामग्री । २ कथ्यते, ख० गम्यते । ३ दृश्यं, ख० दृश्यत्वम् । ४ घटविविक्त०, ख० घटादिविविक्त । ५ वस्तु न निश्चितं तज्ज्ञानं च, ख० वस्तु तज्ज्ञानं वा (अशुद्धः) न निश्चितम् । ६ ततो दृश्यघटरहितः, ख० तादृशघटरहितः ।

का पुनरुपलब्धिलक्षणप्राप्तिरित्याह—

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटस्य । उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यमिति । ज्ञानस्य घटोऽपि जनकः । अन्ये च चक्षुरादयः । घटाद्दृश्यादन्ये हेतवः प्रत्ययान्तराणि । तेषां साकल्यं संनिधिः । स्वभाव एव विशिष्यते तदन्यस्मादिति विशेषो विशिष्ट इत्यर्थः । तदयं विशिष्टः स्वभावः प्रत्ययान्तरसाकल्यं चैतद्द्वयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटादेर्द्रष्टव्यम् ।

कीदृशः स्वभावविशेष इत्याह—

यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु यत्प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः ।

सत्स्वित्यादि । उपलम्भस्य यानि घटाद्दृश्यात्प्रत्ययान्तराणि तेषु सत्सु विद्यमानेषु यः स्वभावः सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः । तदयमत्रार्थः । एकप्रतिपत्त्रपेक्षमिदं प्रत्यक्षलक्षणम् । तथा च सति द्रष्टुं प्रवृत्तस्यैकस्य द्रष्टुर्दृश्यमान उभयवान्भावः । १ । अदृश्यमानास्तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाः स्वभावविशेषरहिताः प्रत्ययान्तरसाकल्यवन्तस्तु । यैर्हि प्रत्ययैः स द्रष्टा पश्यति ते संनिहिताः । अतश्च[2] संनिहिताय द्रष्टुं प्रवृत्तः सः । २ । द्रष्टुमप्रवृत्तस्य तु योग्यदेशस्था अपि द्रष्टुं ते न शक्याः। प्रत्ययान्तरवैकल्यवन्तः स्वभावविशेषयुक्तास्तु । ३ । दूरदेशकालास्तूभयविकलाः । ४ । तदेवं पश्यतः कस्यचिन्न प्रत्ययान्तरविकलो नाम[3] । १ । स्वभावविशेषविकलस्तु भवेत् । २ । अपश्यतस्तु शक्यो द्रष्टुं योग्यदेशस्थः प्रत्ययान्तरविकलः । ३ । अन्ये तूभयविकला इति । ४[4] ।

---

१ उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यस्वभावविशेषवान् । २ क० पुस्तकस्य 'आतश्च' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते । ख० अतश्च संनिहिता यद्द्रष्टुं प्रवृत्ताः (अशुद्धः) स । ३ पश्यतः कस्यचित् पुरुषस्य न प्रत्ययान्तरविकलत्वं भवति । ४ ख० पुस्तकेऽत्राङ्का न विद्यन्ते ।

अनुपलब्धिमुदाहृत्य स्वभावमुदाहर्तुमाह—

स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः ।

स्वभावो हेतुरिति सम्बन्धः । कीदृशो हेतुः साध्यस्यैव[1] स्वभाव इत्याह । स्वस्यात्मनः सत्ता सैव केवला स्वसत्तामात्रम् । तस्मिन् सति भवितुं शीलं यस्येति । यो हेतोरात्मनः सत्तामपेक्ष्य विद्यमानो भवति न तु हेतुसत्ताया व्यतिरिक्तं कञ्चिद्धेतुमपेक्षते स[2] स्वसत्तामात्रभावी साध्यः । तस्मिन् साध्ये यो हेतुः स स्वभावः । तस्य साध्यस्य नान्यः ।

उदाहरणम्—

यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति ।

अयमिति धर्मी । वृक्ष इति साध्यम् । शिंशपात्वादिति हेतुः । तदयमर्थो वृक्षव्यवहारयोग्योऽयं शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वादिति । तत्र प्रचुर-शिंशपे[3] देशेऽविदितशिंशपाव्यवहारो जडो यदा[4] केनचिदुच्चां शिंशपामुपा-[5]दर्श्योच्यते अयं वृक्ष इति तदासौ जाड्याच्छिंशपाया उच्चत्वमपि वृक्षव्य-[6]वहारनिमित्तमवस्यति । तदा यामेवानुच्चां शिंशपां[7] पश्यति तामेवावृक्ष[8]मव-स्यति । स मूढः[9] शिंशपात्वमात्रनिमित्ते वृक्षव्यवहारे प्रवर्त्यते । नोच्चत्वादि निमित्तान्तरमिह वृक्षव्यवहारस्य । अपि तु शिंशपात्वमात्रं निमित्तं शिंशपागतशाखादिमत्त्वं निमित्तमित्यर्थः ।

कार्यमुदाहर्तुमाह—

कार्यं यथाग्निरत्र धूमादिति ।

[10]अग्निरिति साध्यम् । अत्रेति धर्मी । धूमादिति हेतुः । कार्यकारण-भावो लोके [11]प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनः प्रतीत इति न स्वभावस्येव कार्यस्य लक्षणमुक्तम् ।

---

१ साध्यस्यैव स्वभाव, ख० साध्यस्य भावः । २ इदं पदं क० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ३ शिंशप०, क० प्रथमस्थाने 'सिंसप' द्वितीयस्थाने च 'शिंशप' इति लिखति । द्वितीय-पंक्तावप्यिदमेव, 'प्रचुरसिंसपे' किन्तु 'अविदितशिंशपा० ।' ४ यदा, ख० यथा । ५ उपा-दर्श्य, ख० उपदर्श्य । ६ वृक्षव्यवहारनिमित्तं, ख० वृक्षव्यवहारस्य निमित्तम् । ७ शिंशपां पश्यति, ख० पश्यति शिंशपाम् । ८ अवृक्षं, क० अवृक्षत्वम् । ९ ख० पुस्तके 'स मूढः' इत्यस्यानन्तरं '।'इति विरामः प्रयुक्तः । १० अग्निरिति, क० वह्निरिति । ११ प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनः, ख० प्रत्यक्षानुपलम्भः निबन्धनम् ।

ननु त्रिरूपत्वादेकमेव लिङ्गमयुक्तम्[1]। अथ प्रकारभेदाद्भेदः। एवं सति स्वभावहेतोरेकस्यानन्तप्रकारत्वात्त्रित्वमयुक्तमित्याह—

अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ।

अत्रेति एषु[2] त्रिषु हेतुषु मध्ये द्वौ हेतू वस्तुसाधनौ विधेः साधनौ[3] गमकौ।

एकः प्रतिषेधहेतुः।

एकः प्रतिषेधस्य हेतुर्गमकः। प्रतिषेध इति चाभावोऽभावव्यवहारश्चोक्तो द्रष्टव्यः। तदयमर्थो हेतुः साध्यसिद्ध्यर्थत्वात्साध्याङ्गम्। साध्यं प्रधानम्। अतश्च साध्योपकरणस्य हेतोः प्रधानसाध्यभेदाद्भेदो न स्वरूपभेदात्। साध्यश्च कश्चिद्विधिः कश्चित्प्रतिषेधः। विधिप्रतिषेधयोश्च परस्परपरिहारेणावस्थानात्तयोर्हेतू भिन्नौ[4]। विधिरपि कश्चिद्धेतोर्भिन्नः कश्चिदभिन्नः। भेदाभेदयोरप्यन्योन्यत्यागेनात्मस्थितेर्भिन्नौ हेतू। ततः साध्यस्य परस्परविरोधाद्धेतवो[5][6] भिन्ना न तु स्वत एवेति।

कस्मात्पुनस्त्रयाणां हेतुत्वं कस्माच्चान्येषामहेतुत्वमित्याशङ्क्य यथा त्रयाणामेव हेतुत्वमन्येषां चाहेतुत्वं तदुभयं दर्शयितुमाह—

स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्।

स्वभावेन प्रतिबन्धः स्वभावप्रतिबन्धः। साधनं कृतेति समासः। स्वभावप्रतिबद्धत्वं प्रतिबद्धस्वभावत्वमित्यर्थः। कारणे[7] स्वभावे च साध्ये स्वभावेन प्रतिबन्धः कार्यस्वभावयोरविशिष्ट इत्येकेन समासेन द्वयोरपि संग्रहः। हिर्यस्मादर्थे। यस्मात्स्वभावप्रतिबन्धे सति साधनार्थः साध्यार्थं गमयेत्तस्मात्त्रयाणां गमकत्वमन्येषामगमकत्वम्।

कस्मात्पुनःस्वभावप्रतिबन्ध एव सति गम्यगमकभावो नान्यथेत्याह—

तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात्।

तदिति स्वभाव उक्तः। तेन स्वभावेनाप्रतिबद्धस्तदप्रतिबद्धः। यो

---

१ 'युक्तम्' इति पाठः क० पुस्तक एव विद्यते। सर्वत्रान्यत्र तु 'अयुक्तं' इत्येव पाठः। मुद्रितपुस्तकस्य सम्पादकेनापि 'अयुक्त' एव प्रयुक्तम्। अस्माकं सम्मतौ तु 'अयुक्तं' अत्रायुक्तमेव। २ अत्रेति एषु, ख० अत्रेति अत्र। ३ इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते। ४ इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते। ५ परस्पर०, ख० परस्परम्। ६ हेतवः, ख० हेतवोऽपि। ७ कारणे, ख० कारण०।

यत्र स्वभावेन न प्रतिबद्धस्तस्य तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभाव[1]स्तस्याप्रतिबद्ध[2]विषयस्याव्यभिचारस्तदव्यभिचारस्तस्य नियमस्तदव्यभिचारनियमस्तस्याभावात् । अयमर्थः । न हि यो यत्र स्वभावेन न[3] प्रतिबद्धः स तमप्रतिबद्ध[4]विषयमवश्यमेव न व्यभिचरतीति नास्ति तयोरव्यभिचारनियमः । अविनाभावनियमः । अव्यभिचारनियमाच्च गम्यगमकभावः । नहि योग्यतया प्रदीपवत्परोक्षार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमिष्टं लिङ्गम् । अपि त्वव्यभिचारित्वेन निश्चितम् । ततः स्वभावप्रतिबन्धे सत्यविनाभाव[5]निश्चयः । ततो गम्यगमकभावः । तस्मात्स्वभावप्रतिबन्धे सत्यर्थोऽर्थं गमयेन्नान्यथेति स्थितम् ।

ननु च परायत्तस्य प्रतिबन्धोऽपरायत्ते । तदिह साध्यसाधनयोः कस्य कं[6] प्रतिबन्ध इत्याह—

स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तु[7]तस्तादात्म्यात्साध्यार्थादुत्पत्तेश्च ।

स च स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य साध्येऽर्थे । लिङ्गं परायत्तत्वात्प्रतिबद्धम् । साध्यस्त्वर्थोऽपरायत्तत्वात्प्रतिबन्धविषयो न प्रतिबद्ध इत्यर्थः । तत्रायमर्थस्तादात्म्याविशेषेऽपि यत्प्रतिबद्धं तद्गमकम् । यत्प्रतिबन्धविषयस्तद्गम्यम् । यस्य च धर्मस्य यन्नियतः स्वभावः स तत्प्रतिबद्धो यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्योऽनित्यत्वे । यस्य तु स चान्यश्च स्वभावः स प्रतिबन्धविषयः । न तु प्रतिबद्धः । यथानित्यत्वाख्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्ये । निश्चयापेक्षो हि गम्यगमकभावः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव चानित्यस्वभावं निश्चितम् । अतस्तदेवानित्यत्वे प्रतिबद्धं, तस्मान्नियतविषय एव गम्यगमकभावो नान्यथेति । कस्मात्पुनः स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य न वस्तुर्न[8] इत्याह । वस्तुत इत्यादि । स साध्योऽर्थ आ[9]त्मा स्वभावो यस्य तत्तदात्मा

---

१ अभावः, ख० अभावात् । २ अप्रतिबद्ध०, ख० अप्रतिबन्ध० । ३ इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते । ४ अप्रतिबद्ध० ख० अप्रतिबन्ध० । ५ अविनाभावनिश्चयः, ख० अविनाभावित्वनिश्चयः । ६ क, ख० कः । ७ अस्माकं सम्मतौ 'वस्तुतः' अन्यत्र तु 'वस्तुनः' । ८ 'न वस्तुनः' इति पाठः ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । ९ 'अर्थ आत्मा' इति पाठः ख० पुस्तके न विद्यते ।

तस्य भावस्तादात्म्यं[1] तस्माद्धेतोर्यतः साध्यस्वभावं साधनं तस्मात्तत्र[2] स्वभावप्रतिबद्धमित्यर्थः । यदि साध्यस्वभावं साधनं साध्यसाधनयोरभेदात्प्रतिज्ञार्थैकदेशो[3] हेतुः स्यादित्याह वस्तुत इति । परमार्थसता रूपेणाभेदः । तयोर्विकल्पविषयस्तु यत्समारोपितं रूपं तदपेक्षः साध्यसाधनभेदः । निश्चयापेक्ष एव[4] हि गम्यगमकभावः । ततो निश्चयारूढरूपापेक्ष एव तयोर्भेदो युक्तो वास्तवस्त्वभेद इति । न केवलं तादात्म्यादपि तु ततः साध्यादर्थादुत्पत्तिर्लिङ्गस्य[5] तदुत्पत्तेश्च साध्येऽर्थे स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य ।

कस्मान्निमित्तद्वयात्स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य नान्यस्मादित्याह—

अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ।

स स्वभावोऽस्य सोऽयं तत्स्वभावः । न तत्स्वभावोऽतत्स्वभावः । तस्मादुत्पत्तिरस्य सोऽयं तदुत्पत्तिः न तथातदुत्पत्तिः । यो यत्स्वभावो यदुत्पत्तिश्च न भवति तस्यातत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च । तत्रातत्स्वभावेऽनुत्पादके चाप्रतिबद्धः स्वभावोऽस्येति सोऽयमप्रतिबद्धस्वभावस्तस्य भावोऽप्रतिबद्धस्वभावत्वं तस्मादप्रतिबद्धस्वभावत्वात् । यद्यतत्स्वभावेऽनुपादके च कश्चित्प्रतिबद्धस्वभावो भवेत्, भवेदन्यतोऽपि निमित्तात्स्वभावप्रतिबन्धः । प्रतिबद्धस्वभावत्वं हि स्वभावप्रतिबन्धो न चान्यः कश्चिदायत्तस्वभावः । तस्मात्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव स्वभावप्रतिबन्धः ।

भवतु नाम तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव स्वभावप्रतिबन्धः कार्यस्वभावयोरेव तु गमकत्वं कथमित्याह—

ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।

इतिस्तस्मादर्थे । यस्मात्स्वभावे कार्य एव च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्थिते तन्निबन्धनश्च गम्यगमकभावस्तस्मात्ताभ्यामेव कार्यस्वभावाभ्यां वस्तुनो विधेः सिद्धिः ।

---

१ तादात्म्यं, ख० तादात्म्यं तत्स्वभावत्वम् । २ इदं पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । ३ धर्मधर्मीसमुदायो प्रतिज्ञा । तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा । ४ निश्चयापेक्ष एव, ख० निश्चयापेक्षया एवं । ५ लिङ्गस्य, ख० लिङ्गस्य स्यात् ।

अथ प्रतिषेधसिद्धिरदृश्यानुपलम्भादपि कस्मान्नेष्टेत्याह—

प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः ।

प्रतिषेधव्यवहारस्य सिद्धिर्यथोक्ता या दृश्यानुपलब्धिस्तत एव भवति यतस्तस्मादन्यतो नोक्ता ।

ततस्तावत्कस्माद्भवतीत्याह—

सति वस्तुनि तस्या असंभवात् ।

सति तस्मिन्प्रतिषेध्ये वस्तुनि यस्माद्दृश्यानुपलब्धिर्न संभवति तस्मादसंभवात्ततः प्रतिषेधसिद्धिः ।

अथ तत एव कस्मादित्याह—

अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वात्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् ।

सति वस्तुनि तस्या अदृश्यानुपलब्धेः संभवादित्यन्यथा शब्दार्थः । एतस्मात्कारणान्नान्यस्या अनुपलब्धेः प्रतिषेधसिद्धिः । कुत एतत्सत्यपि वस्तुनि तस्याः संभव इत्याह । अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्वित्यादि । इह प्रत्ययान्तरसाकल्यात्स्वभावविशेषाच्चोपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थ उक्तः । द्वयोरेकै[1]स्याप्यभावेऽनुपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थ उच्यते । तदिहानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्विति प्रत्ययान्तरकैवल्यवन्त उक्ताः । देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्विति । स्वभावविशेषविप्रकृष्टा[2] उक्ताः । देशश्च कालश्च स्वभावश्च तैर्विप्रकृष्टा इति विग्रहः । तेष्वभावनिश्चयस्याभावात् । सत्यपि वस्तुनि तस्याभाव इष्टः । कस्मान्निश्चयाभाव इत्याह । तेषु प्रतिपत्तु[3]रात्मनो यत्प्रत्यक्षं तस्य निवृत्तेः कारणान्निश्चयाभावः । यस्मादनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्वात्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावस्तस्मात्सत्यपि वस्तुन्यात्मप्रत्यक्षनिवृत्तिलक्षणाया अदृश्यानुपलब्धेः संभवः । ततो यथोक्ताया एव प्रतिषेधसिद्धिः ।

---

१. 'एकस्य' इति पाठा० ख० पुस्तक एव विद्यते । क० पुस्तके मुद्रितपुस्तके च 'एकैकस्य' इति पाठ उपलभ्यते । २. स्वभावविशेषविप्रकृष्टाः, ख० स्वभावविशेषरहिताः । ३. ज्ञातुः ।

अथैवं दृश्यानुपलब्धिः कस्मिन्काले प्रमाणं किंस्वभावा किंव्यापारा चेत्याह—

अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारसाधनी ।

प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षो घटादिरर्थस्तस्य निवृत्तिरनुपलब्धिस्तदभावस्वभावेति यावत् । अत एवाभावो न साध्यः स्वभावानुपलब्धेः सिद्धत्वात् । अविद्यमानोऽपि च घटादि[1]रेकज्ञानसंसर्गिणि भूतले भासमाने समग्रसामग्रीको ज्ञायमानो दृश्यमान[2]तया संभावितत्वात्प्रत्यक्ष उक्तः । अत एकज्ञानसंसर्गी[3] दृश्यमानोऽर्थस्तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिरुच्यते । ततो हि दृश्यमानादर्थात्तद्बुद्धेश्च समग्र[4]दर्शनसामग्रीकत्वेन प्रत्यक्षतया संभावितस्य निवृत्तिरवसीयते । तस्मादर्थज्ञान एव प्रत्यक्षस्य घटस्याभाव उच्यते । न तु निवृत्तिमात्रमिहाभावो निवृत्तिमात्राद्दृश्यनिवृत्त्यनिश्चयात् । ननु च दृश्यनिवृत्तिरवसीयते दृश्यानुपलम्भात् । सत्यमेवैतत् । केवलमेकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने घटो यदि भवेद्दृश्य एव भवेदिति दृश्यः संभावितस्ततो दृश्यानुपलब्धिर्निश्चिता । दृश्यानुपलब्धिनिश्चयसामर्थ्यादेव च दृश्याभावो निश्चितः । यदि हि दृश्यस्तत्र भवेद्दृश्यानुपलम्भो न भवेत् । अतो दृश्यानुपलम्भनिश्चयाद्दृश्याभावः सामर्थ्यादवसितो न तु[5] व्यवहृत इति दृश्यानुपलम्भेन व्यवहर्तव्यः । तस्मादर्थान्तरमेकज्ञानसंसर्गि दृश्यमानं तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिनिश्चयहेतुत्वात्प्रत्यक्षनिवृत्तिरुक्तं द्रष्टव्यम् । यथा चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रत्यक्षघटस्य प्रत्यक्षत्वमारोपितमसतोऽपि तथा तस्मिन्नेकज्ञानसंसर्गिण्यतीते वर्तमाने चामूढस्मृतिसंस्कारे च घटस्य तद्रूपमारोपितमसत इति द्रष्टव्यम् । अनेन दृश्यानुपलब्धिः प्रत्यक्षघटनिवृत्तिःस्वभावोक्ता । सा च सिद्धा तेन न[6] घटाभावः साध्योऽपि त्वभावव्यवहार इत्युक्तम् ।

---

१. इदं पदं ख० पुस्तक एवोपलभ्यते । २ ‘दृश्यमानतया’ इति पाठः ख० पुस्तक एवास्ति । अन्यत्र सर्वत्र तु ‘दृश्यतया’ इत्येव पाठः । ३. संसर्गी, ख० संसर्गात् । ४. समग्र, ख० समय । ५. ‘तु’ इति पाठः ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ६. ‘न’ इति पाठः ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते ।

अमूढोऽभ्रष्टो दर्शनाहितः स्मृतिजननरूपः संस्कारो यस्मिन्घटादौ स तथोक्तः। तस्यातीतस्य प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति सम्बन्धः। वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति सम्बन्धः। अमूढस्मृतिसंस्कारग्रहणन्तु न वर्तमानविशेषणम्। यस्मादतीते घटविविक्तप्रदेशदर्शने स्मृतिसंस्कारो मूढो दृश्यघटानुपलम्भे दृश्ये च घटेऽमूढो भवति[1]। वर्तमाने च घटरहितप्रदेशदर्शने न स्मृतिसंस्कारमोहः। अत एव न[2] घटानुपलम्भे नापि घटे मोहः। तस्मान्न वर्तमाननिषेध्यविशेषणममूढस्मृतिसंस्कारग्रहणम्। स्मृतिसंस्कारव्यभिचाराभावाद्वर्तमानस्यार्थस्य। अत एव वर्तमानस्य चेति। चशब्दः कृतो विशेषणरहितस्य वर्तमानस्य विशेषणवतातीतेन समुच्चयो यथा विज्ञायेतेति[3]। तदयमर्थोऽतीतोऽनुपलम्भः स्फुटं[4] स्मर्यमाणः प्रमाणं वर्तमानश्च। ततो नासीदिह घटोऽनुपलब्धत्वान्नास्त्यनुपलभ्यमानत्वादिति शक्यं ज्ञातुम्। न तु न भविष्यत्यत्र घटोऽनुपलप्स्यमानत्वादिति[5] शक्यं ज्ञातुम्। अनागताया अनुपलब्धेः सत्त्वसन्देहादिति। कालविशेषोऽनुपलब्धेर्व्याख्यातः।

व्यापारं दर्शयति। अभावस्य व्यवहारो नास्तीत्येवमाकारं ज्ञानं शब्दश्चैवमाकारो निःशङ्कं गमनागमनलक्षणा[6] च प्रवृत्तिः कायिकोऽभावव्यवहारः। घटाभावे हि ज्ञाते निःशङ्कं गन्तुमागन्तुं च प्रवर्तते। तदेवमेतस्य[7] त्रिविधस्याप्यभावव्यवहारस्य[8] दृश्यानुपलब्धिः साधनी प्रवर्तिका। यद्यपि च नास्ति घट इति ज्ञानमनुपलब्धेरेव भवत्ययमेव चाभावनिश्चयस्तथापि यस्मात्प्रत्यक्षेण केवलः प्रदेश उपलब्धस्तस्मादिह घटो नास्तीत्येवं च प्रत्यक्षव्यापारमनुसरत्यभावनिश्चयः। तस्मात्प्रत्यक्षस्य केवलप्रदेशग्रहणव्यापारानुसार्यभावनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः। किञ्च। दृश्यानुपलम्भनिश्चयकरणसामर्थ्यादेव पूर्वोक्तया नीत्या प्रत्यक्षेणैवाभावो निश्चितः। केवलमदृष्टानामपि सत्त्वसंभवात्। सत्त्वशङ्कया न शक्नोत्यसत्त्वं व्यवहर्तुम्।

---

१. स्मृतिसंस्कारः। २. इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते। ३. 'इति' इति पाठः ख० पुस्तके न विद्यते। ४. स्फुटं, क० स्फुटः। ५. अनुपलप्स्यमानत्वात्, क० अनुपलभ्यमानत्वात्। ६. निःशङ्कं गमनागमन०, ख० निःशंकगमागम०। ७. तदेवमेतस्य, ख० तदेव तस्य। ८. व्यवहारस्य, क० व्यवहार०।

अतोऽनुपलम्भोऽभावं[1] व्यवहारयति । दृश्यो यतोऽनुपलब्धस्तस्मान्नास्तीत्यतो दृश्यानुपलम्भोऽभावज्ञानं कृतं प्रवर्तयति न त्वकृतं करोतीत्यभावनिश्चयोऽनुपलम्भात्प्रवृत्तोऽपि प्रत्यक्षेण कृतोऽनुपलम्भेन प्रवर्तित उक्त इत्यभावव्यवहारप्रवर्तिन्युपलब्धिः[2] ।

कस्मात्पुनरतीते वर्तमाने चानुपलब्धिर्गमिकेत्याह—

तस्या एवाभावनिश्चयात् ।

तस्या एव यथोक्तकालाया अनुपलब्धेरभावनिश्चयात् । अनागता ह्यनुपलब्धिः स्वयमेव संदिग्धस्वभावा । तस्या असिद्धाया नाभावनिश्चयोऽपि त्वतीतवर्तमानाया इति ।

संप्रत्यनुपलब्धेः प्रकारभेदं दर्शयितुमाह—

सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।

सा चैषानुपलब्धिरेकादशप्रकारा, एकादश प्रकारा अस्या इत्येकादशप्रकारा[3] । कुतः प्रकारभेदः प्रयोगभेदात् । प्रयोगः प्रयुक्तिः शब्दस्याभिधानव्यापार उच्यते । शब्दो हि साक्षात्क्वचिदर्थान्तराभिधायी क्वचित्प्रतिषेधान्तराभिधायी । सर्वत्रैव तु दृश्यानुपलब्धिरशब्दोपात्तापि गम्यत इति वाचकव्यापारभेदाद्[4] दनुपलम्भप्रकारभेदो न तु स्वरूपभेदादिति यावत् ।

प्रकारभेदानाह—

स्वभावानुपलब्धिर्यथा । नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।

प्रतिषेध्यस्य यः स्वभावस्तस्यानुपलब्धिः । यथेति । अत्रेति धर्मी न धूम इति साध्यम् । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति हेतुः । अयं च हेतुः पूर्ववद्व्याख्येयः ॥ १ ॥

---

१. इदं पदं क० पुस्तके नैव विद्यते । २ 'प्रवर्तिनी' इत्ययमेव पाठः ख० पुस्तके विद्यते । क० पुस्तके स्पष्टरूपेण 'प्रवर्त्तनमुपल०' इति लिखितं यच्च 'प्रवर्त्तन्युपल०' इत्यशुद्धे रूपे विकारितम् । ३. ख० पुस्तके 'एकादशप्रकारा एकादश प्रकारा अस्य इत्येकादशप्रकारा' इति लिखितम् । मुद्रितपुस्तके क० पुस्तके च 'एकादश प्रकारा अस्या इत्येकादशप्रकारा' इति पाठः । ४. भेदात्, क० भेद० ।

कार्यानुपलब्धिर्यथा । नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात् ।

प्रतिषेध्यस्य यत्कार्यं तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते । यथेति । इहेति धर्मी । अप्रतिबद्धमनुपहतं धूमजननं प्रति सामर्थ्यं येषां तान्यप्रतिबद्धसामर्थ्यानि न सन्तीति साध्यम् । धूमाभावादिति हेतुः । कारणानि च नावश्यं कार्यवन्ति भवन्तीति कार्यादर्शनादप्रतिबद्धसामर्थ्यानामेवाभावः साध्यः । न त्वन्येषाम् । अप्रतिबद्धशक्तीनि चानन्तरक्षणभावीन्येवान्येषां प्रतिबन्धसंभवात् । कार्यानुपलब्धिश्च यत्र कारणमदृश्यं तत्र प्रयुज्यते दृश्ये तु कारणे दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका । तत्र धवलगृहो[1]परिस्थितो गृहाङ्गणमपश्यन्नपि चतुर्षु पार्श्वेष्वङ्गणभित्तिपर्यन्तं पश्यति । भित्तिपर्यन्तसमं चालोकसंज्ञकमाकाशदेशं धूमविविक्तं पश्यति । तत्र धूमाभावनिश्चयाद्यद्देशस्थेन वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः स्यात् । तस्य च[2] वह्नेरप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याभावः प्रतिपत्तव्यः । तद्[3]गृहाङ्गणदेशेन वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः[4] स्यात् । तस्मात्तद्देशस्य वह्नेरभावः प्रतिपत्तव्यः । तद्गृहाङ्गणदेशं भित्तिपरिच्छिन्नं भित्तिपर्यन्तपरिच्छिन्नेन चालोकात्मना धूमविविक्तेनाकाशदेशेन सह धर्मिणं करोति । तस्माद्दृश्यमानादृश्य[5]मानाकाशदेशावयवः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसमुदायो वह्न्यभावप्रतीतिसामर्थ्याद्यतो धर्मी न दृश्यमान एव । इहेति तु प्रत्यक्षनिर्देशो दृश्यमानभागापेक्षो न केवलमिहैव दृश्यादृश्यसमुदायो धर्म्यपि त्वन्यत्रापि । शब्दस्य क्षणिकत्वे साध्ये कश्चिदेव शब्दः प्रत्यक्षोऽन्यस्तु परोक्षस्तद्वदिहापि । यथा चात्र धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यधिकरणभूतो दृश्यादृश्यावयवो दर्शितस्तद्वदुत्तरेष्वपि प्रयोगेषु स्वयं प्रतिपत्तव्यः ॥ २ ॥

व्यापकानुपलब्धिर्यथा । नात्र शिंशपा वृक्षाभावादिति ।

प्रतिषेध्यस्य व्याप्यस्य यो व्यापको धर्मस्तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते ।

---

१. धवलगृह० ख० धवलगृहस्य । २. ख० पुस्तके नायं पाठो दृश्यते । ३. क० तद्गृहाङ्गणदेशेन भ (अशुद्धः) वह्निना । ख० तद्गृहांगणस्थेन च । ४. 'तद्देशः' इति पाठः ख० पुस्तके 'तादृशः' इत्यवलोक्यते । ५. दृश्यमानादृश्यमानाकाशदेशावयवः, क० दृश्यमानाकारी (अशुद्धः) देशावयवः ।

यथेति । अत्र धर्मी । न शिंशपेति शिंशपाभावः साध्यः । वृक्षस्य व्यापकस्याभावादिति हेतुः । इयमप्यनुपलब्धिर्व्याप्यस्य शिंशपात्वस्य[1] दृश्याभावे प्रयुज्यते । उपलब्धिलक्षणप्राप्ते तु व्याप्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका । तत्र यदा पूर्वापरावुपश्लिष्टौ समुन्नतौ देशौ भवतस्तयोरेकस्तरुगहनोपेतोऽपरश्चैकशिलाघटितो निर्वृक्षकश्च । द्रष्टापि तत्स्थान्वृक्षान्पश्यन्नपि शिंशपादिभेदं न[2] यो विवेचयति । तस्य वृक्षत्वं प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं शिंशपात्वम् । स हि निर्वृक्ष एकशिलाघटिते वृक्षाभावं दृश्यत्वाद्दृश्यानुपलम्भादवस्यति । शिंशपात्वाभावं तु व्यापकस्य वृक्षस्याभावादिति । तादृशे[3] विषयेऽस्या अभावसाधनाय प्रयोगः ॥ ३ ॥

स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति ।

प्रतिषेध्यस्य स्वभावेन विरुद्धस्योपलब्धिरुदाहियते । यथेति । अत्रेति धर्मी । न शीतस्पर्श इति[5] शीतस्पर्शप्रतिषेधः साध्यः । वह्नेरिति हेतुः । इयं चानुपलब्धिस्तत्र प्रयोक्तव्या यत्र शीतस्पर्शोऽदृश्यः । दृश्ये[6] दृश्यानुपलब्धिप्रयोगात् । तस्माद्यत्र वर्णविशेषाद्वह्निर्दृश्यः शीतस्पर्शो दूरस्थत्वा[7]त्सन्नप्यदृश्यस्तत्रास्याः प्रयोगः ॥ ४ ॥

विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा । नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति ।

प्रतिषेध्येन यद्विरुद्धं तत्कार्यस्योपलब्धिर्गमिका । यथेति । अत्रेति धर्मी । न शीतस्पर्श इति शीतस्पर्शाभावः साध्यः । धूमादिति हेतुः । यत्र शीतस्पर्शः सन्दृश्यः स्यात्तत्र दृश्यानुपलब्धिर्गमिका । यत्र विरुद्धो[8] वह्निः प्रत्यक्षस्तत्र विरुद्धोपलब्धिः । द्वयोरपि तु परोक्षत्वे विरुद्धकार्योपलब्धिः प्रयुज्यते । तत्र[9] समस्तापवरकस्थं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्याग्नेरनुमापकं यदा विशिष्टं धूमकलापं निर्यान्तमपवरकात्पश्यति तदा विशिष्टाद्वह्नेरनुमिताच्छीतस्पर्शनिवृत्तिमनुमिमीते[10] । इह दृश्यमानद्वारप्रदेशसहितः सर्वाप[11]वरकाभ्यन्तरदेशो धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यनुसरणात्पूर्ववद्द्रष्टव्यः ॥ ५ ॥

---

१. शिंशपात्वस्य, ख० शिंशपात्व० । २. न यः, ख० यो न । ३. तादृशे क० तादृश० । ४. पाठोऽयं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ५ क० पुस्तके 'इति' इत्यसंगृह्य 'न शीतस्पर्शं' इत्यशुद्धो पाठो विद्यते । ६. दृश्ये, क० दृश्यो, ख० दृश्ये तु । ७. दूरस्थत्वात्, ख० दूरत्वात् । ८. विरुद्ध०, क० विरोध० । ९. तत्र, क० यत्र । १०. निवृत्तिमनुमिमीते, क० निवृत्तिरनुमीयते । ११. सर्वापवरक०, ख० सर्वोपवरक० ।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा । न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो हेत्वन्तरापेक्षणादिति ।

प्रतिषेध्यस्य यद्विरुद्धं तेन व्याप्तस्य धर्मान्तरस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या । यथेति । ध्रुवमवश्यं भवतीति[1] ध्रुवभावी नेतिध्रुवभावित्वनिषेधः साध्यः । विनाशो धर्मी । भूतस्यापि भावस्येति धर्मिविशेषणम् । भूतस्य जातस्यापि विनश्वरः स्वभावो नावश्यंभावी किमुताजातस्येत्यपि शब्दार्थः । जनना[2]द्धेतोरन्यो हेतुर्हेत्वन्तरं मुद्गरादि तदपेक्षते विनश्वरः[3] । तस्यापेक्षणादिति हेतुः । हेत्वन्तरापेक्षणं नामाध्रु[4]वभावित्वेन व्याप्तम् । यथा वाससि रागस्य रञ्ज[5]नादिहेत्वन्तरापेक्षणध्रुवभावित्वेन व्याप्तम् । ध्रुवभावित्वविरुद्धं चाध्रुवभावित्वम् । विनाशश्च विनश्वरस्वभावात्मा हेत्वन्तरापेक्ष इष्टः । ततो विरुद्धव्याप्तहेत्वन्तरापेक्षणदर्शनाद् ध्रुवभावित्वनिषेधः । इह ध्रुवभावित्वं नित्यत्वमध्रुवभावित्वं च[6]ानित्यत्वम् । नित्यत्वानित्यत्वयोश्च परस्परपरिहारेणावस्थानादेकत्र विरोधः । तथा च सति परस्परपरिहारवतोर्द्वयोर्यदैकं दृश्यते तत्र द्वितीयस्य तादात्म्यनिषेधः कार्यः । तादात्म्यनिषेधश्च दृश्य[7]तयाऽभ्युपगतस्य संभवति । य[8]त एवं तादात्म्यनिषेधः क्रियते यद्ययं दृश्यमानो नित्यो भवेन्नित्यरूपो दृश्येत । न च नित्यरूपो दृश्यते । तस्मान्न नित्यः । एवं च प्रतिषेध्यस्य नित्यत्वस्य दृश्यमानात्म[9]त्वमभ्युपगम्य प्रतिषेधः कृतो भवति । वस्तुनोऽप्यदृश्यस्य पिशाचादेर्यदि[10] दृश्यघटात्मत्वनिषेधः[11] क्रियते दृश्यात्मत्वमभ्युपगम्य कर्तव्यः । [12]यद्ययं दृश्यमानः पिशाचात्मा भवेत्पिशाचो दृष्टो भवेत् । न च दृष्टस्तस्मान्न पिशाच इति दृश्यात्मत्वाभ्युपगमपूर्वको दृश्यमाने घटादौ वस्तुनि वस्तुनोऽवस्तुनो वा दृश्यस्यादृश्यस्य च तादात्म्यनिषेधः । तथा च सति यथा घटस्य दृश्यत्वमभ्युपगम्य [13]प्रतिषेधो दृश्यानुपलम्भादेव तद्वत्सर्वस्य परस्परपरिहारवतोऽ-

---

१ पाठोऽयं ख० पुस्तके न विद्यते । २ जननात्, ख० जनकात् । ३ विनश्वरः । तस्य, क० विनश्वरस्य । ४ नामाध्रुव०, ख० नाध्रुव० । ५ रञ्जनादि०, ख० रजकादि० । ६ इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते । ७ दृश्यतया, क० तया । ८ यतः, क० यः । ९ दृश्यमानात्मत्वं, ख० दृश्यमानात्मकत्वम् । १० यदि, ख० यदैव । ११ दृश्यघटात्मत्व०, ख० दृश्यघटात्मकत्व० । १२ यद्ययं, ख० यद्ययं घटः । १३ प्रतिषेधः, ख० निषेधः ।

न्यत्र दृश्यमाने निषेधो दृश्यानुपलम्भादेव । तथा चास्यैवंजातीयकस्य प्रयोगस्य स्वभावानुपलब्धावन्तर्भावः ॥ ६ ॥

कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्त्यग्नेरिति ।

प्रतिषेध्यस्य यत्कार्यं तस्य यद्विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम् । यथेति । इहेति धर्मी । अप्रतिबद्धं सामर्थ्यं येषां शीतकारणानां शीतजननं प्रति न[1] तानि सन्तीति साध्यम् । वह्नेरिति हेतुः । यत्र शीतकारणान्यदृश्यानि शीतस्पर्शोऽप्यदृश्यस्तत्रायं हेतुः प्रयोक्तव्यः । दृश्यत्वे तु शीतस्पर्शस्य तत्कारणानां वा कार्यानुपलब्धिर्दृश्यानुपलब्धिर्वा गमिका । तस्मादेषाऽप्य-भावसाधनी । ततो यस्मिन्देशे सदपि शीतकारणमदृश्यं शीतस्पर्शश्च दूरस्थत्वात्प्रतिपत्तुर्वह्निर्भास्वरवर्णत्वाद् दूरादपि दृश्यस्तत्रायं प्रयोगः ॥ ७ ॥

व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति ।

प्रतिषेधस्य यद्व्यापकं तेन यद्विरुद्धं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या । यथेति । अत्रेति धर्मी । तुषारस्पर्शो नेति साध्यम् । वह्नेरिति[2] हेतुः । यत्र व्याप्य-स्तुषारस्पर्शो व्यापकश्च च शीतस्पर्शो न दृश्यस्तत्रायं हेतुः । तयोर्दृश्यत्वे स्वभावस्य व्यापकस्य चानुपलब्धिर्यतः प्रयोक्तव्या । तथा च[3] सत्यभाव-साधनीयम् । दूरवर्तिनश्च प्रतिपत्तुस्तुषारस्पर्शः शीतस्पर्शविशेषः । शीतमात्रं च[4] परोक्षम् । वह्निस्तु रूपविशेषाद् दूरस्थोऽपि प्रत्यक्षः । ततो वह्नेः शीत-मात्राभावः । ततः शीतविशेषतुषारस्पर्शाभावनिश्चयः । शीतविशेषस्य शीतसामान्येन व्याप्तत्वादिति विशिष्टे[5]विषयेऽस्याः प्रयोगः ॥ ८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा । नात्र धूमोऽग्न्यभावादिति ।

प्रतिषेध्यस्य यत्कारणं तस्यानुपलब्धेरुदाहरणम् । यथेति । अत्रेति धर्मी । न धूम इति साध्यम् । वह्न्यसत्वादिति हेतुः । यत्र कार्यं सदपि दृश्यं[6] न भवति तत्रायं प्रयोगः । दृश्ये तु कार्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका ।

---

१ न तानि सन्तीति, ख० तानि न संती (अशुद्धः)। २ वह्नेः, ख० अग्नेः। ३ पदमिदं ख० पुस्तक एव दृश्यते । ४ पदमिदं ख० पुस्तके न दृश्यते । ५ विशिष्ट०, ख० विशिष्टे। ६ दृश्यं न भवति, ख० अदृश्यं भवति ।

ततोऽयमप्यभावसाधनः । निष्कम्पायतसलिलपूरिते ह्रदे हेमन्तोचित-बाष्पोद्गमे विरले संध्यातमसि सति सन्नपि तत्र[1] धूमो न दृश्य[2] इति कारणानुपलब्ध्या प्रतिषेध्यते[3] । वह्निस्तु यदि तस्याम्भस उपरि प्लवमानो भवेज्ज्वलितो[4] रूपविशेषादेवोपलब्धो भवेत् । अज्वलितस्त्विन्धन[5]मध्यनिविष्टो भवेत्तत्रापि दहनाधिकरणमिन्धनं प्रत्यक्षमिति स्वरूपेणाधाररूपेण वा दृश्य एव वह्निरिति तत्रास्याः प्रयोगः ॥ ९ ॥

कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नास्य रोमहर्षादिविशेषाः संनिहितदहनविशेषत्वादिति ।

प्रतिषेध्यस्य यत्कारणं तस्य यद्विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम् । यथेति । अस्येति धर्मी । रोम्णां हर्ष उद्भेदः स आदिर्येषां दन्तवीणादीनां शीतकृतानां ते विशिष्यन्ते[6] तदन्येभ्यो भयश्रद्धादिकृतेभ्य इति रोमहर्षादि-विशेषाः । ते न सन्तीति साध्यम् । दहन एव विशिष्यते[7] तदस्माद्दहना[8]-च्छीतनिवर्तनसामर्थ्येनेति दहनविशेषः । कश्चिद्दहनः सन्नपि न शीत-निवर्तनक्षमो यथा प्रदीपः । तादृशनिवृत्तये विशेषग्रहणम् । संनिहितो दहनविशेषो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तस्मादिति हेतुः । यत्र शीतस्पर्शः सन्नप्यदृश्यो रोमहर्षादिविशेषाश्चादृश्यास्तत्रायं प्रयोगः । रोमहर्षादिवि-शेषस्य दृश्यत्वे दृश्यानुपलब्धिः प्रयोक्तव्या । शीतस्पर्शस्य दृश्यत्वे कारणा-नुपलब्धिः । तस्मादभावसाधनोऽयम् । रूपविशेषाद्विदूराद्दहनं पश्यति । शीतस्पर्शस्त्वदृश्यो रोमहर्षादिविशेषाश्च । तेषां कारणविरुद्धोपलब्ध्याभावः[10] प्रतिपद्यत इति । तत्रास्याः प्रयोगः ॥ १० ॥

कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा । न रोमहर्षादिविशेष-युक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमादिति ।

प्रतिषेध्यस्य यत्कारणं तस्य यद्विरुद्धं तस्य यत्कार्यं[11] तस्योपलब्धिरुदा-

---

१ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते । २ दृश्यः, ख० दृश्यते । ३ प्रतिषेध्यते, ख० प्रतिषिध्यते । ४ ज्वलितः, ख० प्रज्वलितः । ५ इन्धन, ख० वन । ६ विशिष्यन्ते, ख० विशेष्यन्ते । ७ विशिष्यते, ख० विशेष्यते । ८ पदमिदं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ९ दहनविशेषस्यैव शीतानिवृत्तौ कारणत्वात्, न दहनसामान्यस्य । १० क० भाव (अशुद्धः), ख० भावम् । ११ कार्यं, मुद्रितपुस्तके 'कार्थं' (अशुद्धः) ।

हर्तव्या । यथेति । अयं देश[1] इति धर्मी । योगो युक्तं रोमहर्षादिविशेषै-र्युक्तं रोमहर्षादिविशेषयुक्तम्[2] । तस्य सम्बन्धी पुरुषो रोमहर्षादिविशेष[3]युक्त-पुरुषः । तद्वान्न भवतीति साध्यम् । धूमादिति हेतुः । रोमह[4]र्षादिविशे-षस्य प्रत्यक्षत्वे दृश्यानुपलब्धिः । कारणस्य शीतस्पर्शस्य प्रत्यक्षत्वे कारणा-नुपलब्धिः । वह्नेस्तु प्रत्यक्षत्वे कारणविरुद्धोपलब्धिः प्रयोक्तव्या । त्रया-णामप्यदृश्यत्वेऽयं प्रयोगः । तस्मादभावसाधनोऽयम् । तत्र[5] दूरस्थस्य प्रतिपत्तुर्दहनशीतस्पर्शरोमहर्षादिविशेषा अप्रत्यक्षाः सन्तोऽपि धूमस्तु प्रत्यक्षो यत्र तत्रैतत्प्रमाणम् । धूमस्तु यादृशस्तस्मिं[6]न्देशे स्थितं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्य वह्नेरनुमापकः स इह ग्राह्यः । धूममात्रेण तु वह्नि-मात्रेऽनुमितेऽपि न शीतस्पर्शनिवृत्तिर्नापि रोमहर्षादिविशेषनिवृत्तिरवसातुं शक्येते न धूममात्रं हेतुरिति द्रष्टव्यमिति ॥ ११ ॥

यद्येकः प्रतिषेधहेतुरुक्तः कथमेकादशाभावहेतव इत्याह—

इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति ।

इमेऽनुपलब्धिप्रयोगाः । इदमानन्तरप्रयोगान्ता[10] निर्दिष्टाः । तत्र कियतामपि ग्रहणे प्रसक्त आह कार्यानुपलब्ध्यादय इति । कार्यानुपल-ब्ध्यादीनामपि त्रयाणां चतुर्णां वा ग्रहणे प्रसक्ते सत्याह[11] । दशेति । दशा-नामप्युदाहृतमात्राणां ग्रहणप्रसङ्गे सत्याह[12] । सर्व इत्येतदुक्तं भवति । अप्र-युक्ता अपि प्रयुक्तोदाहरणसदृशाश्च सर्व एवेति दशग्रहणमन्तरेण सर्वग्रहणे क्रियमाणे प्रयुक्तोदाहरणकार्त्स्न्यं गम्येत । दशग्रहणात्तूदाह[13]रणकार्त्स्न्येऽवगते सर्वग्रहणमतिरिच्यमानमुदाहृतसदृशकार्त्स्न्यावगतये जायते । ते स्वभावा-नुपलब्धौ संग्रहतादात्म्येन गच्छन्ति । स्वभावानुपलब्धिस्वभावा इत्यर्थः ।

---

१ देशः, ख० प्रदेशः । २ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ३ विशेषयुक्त०, ख० विशेषगुणयुक्त० । ४ रोमहर्षादि०, ख० रोमहर्ष० । ५ तत्र, क० यत्र । ६ तस्मिन्देशे, ख० तद्देशे । ७ पदमिदं क० पुस्तके न विद्यते । ८ 'विशेष' इति पाठो ख० पुस्तके न विद्यते । ९ पाठोऽयं क० पुस्तके नास्ति । १० प्रयोगान्ताः. क० प्रयोक्तांन (अशुद्धः), ख० प्रक्रांता ११ सत्याह, क० त्याह (अशुद्धः) । १२ ख० पुस्तके 'सति' इति पाठो न विद्यते । १३ दशग्रहणात्तूदाहरण०, ख० दशग्रहणोदाहरण० ।

ननु च स्वभावानुपलब्धिप्रयोगाद्भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादयस्तत्कथमन्तर्भवन्तीत्याह—

पारम्पर्येणार्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेदेऽपि प्रयोगदर्शनाभ्यासात्स्वयमप्येवं व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवतीति स्वार्थेऽप्यनुमानेऽस्याः प्रयोगनिर्देशः ।

प्रयोगभेदेऽपि । प्रयोगस्य शब्दव्यापारस्य भेदेऽपि अन्तर्भवन्ति । कथं प्रयोगभेद इत्याह । अर्थान्तर[1]विधीत्यादि । प्रतिषेध्याद[2]र्थादर्थान्तरस्य विधिरुपलब्धिः । स्वभावविरुद्धाद्युपलब्धिप्रयोगेषु प्रतिषेधः । कार्यानुपलब्ध्यादिप्रयोगेष्वर्थान्तरविधिनाऽर्थान्तरप्रतिषेधेन च प्रयोगा भिद्यन्ते । यदि प्रयोगान्तरेष्वर्थान्तरविधिप्रतिषेधौ कथं तर्ह्यन्तर्भवन्तीत्याह । पारम्पर्येणेति । प्रणालिकयेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । न साक्षादेते प्रयोगा दृश्यानुपलब्धिमभिदधति । दृश्यानुपलब्ध्यव्यभिचारिणं त्वर्थान्तरस्य विधिनिषेधं वाऽभिदधति । ततः प्रणालिकयाऽमीषां स्वभावानुपलब्धौ संग्रहो न साक्षादिति । यदि प्रयोगभेदेन भेदः परार्थानुमाने वक्तव्य एषः । शब्दभेदो हि प्रयोगभेदः । शब्दश्च[3] परार्थानुमानमित्याशङ्क्याह प्रयोगदर्शनेत्यादि । प्रयोगाणां शास्त्रघटितानां[4] दर्शनमुपलम्भः । तस्याभ्यासः पुनः पुनरावर्तनम् । तस्मान्निमित्तात्स्वयमपीति प्रतिपत्तुरात्मनोऽप्येवमित्यनन्तरोक्तेन क्रमेण व्यवच्छेद्यस्य प्रतिषेधस्य प्रतीतिर्भवतीति[5] । इति शब्दस्तस्मादर्थे । तदयमर्थः । यस्मात्स्वयमप्येवमनेनोपायेन प्रतिपद्यते प्रयोगाभ्यासात्तस्मात्स्वप्रतिपत्तावप्युपयुज्यमानस्यास्य प्रयोगभेदस्य स्वार्थानुमाने निर्देशः । यत्पुनः परप्रतिपत्तावेवोपयुज्यते तत्परार्थानुमान एव वक्तव्यमिति ।

ननु च कार्यानुपलब्ध्यादिषु कारणादीनामदृश्यानामेव प्रतिषेध[6]ः दृश्यनिषेधे स्वभावानुपलम्भप्रयोगप्रसङ्गात् । तथा च सति न तेषां

---

१ अर्थान्तरविधीत्यादि, लिखितपुस्तकयोः, अर्थान्तरविधीति । २ प्रतिषेध्यादर्थादर्थान्तरस्य, ख० प्रतिषेध्यादर्थान्तरस्या । ३ शब्दश्च, ख० शब्दस्तु । ४ घटितानाम्, ख० परिघटितानाम् । ५ 'इति' पदं ख० पुस्तके न विद्यते । ६ प्रतिषेधः, ख० निषेधः ।

दृश्यानुपलब्धेर्निषेधस्तत्कथमेषां प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भाव इत्याह—

सर्वत्र चास्यामभावव्यवहारसाधन्यामनुपलब्धौ येषां स्वभावविरुद्धादीनामुपलब्ध्या कारणादीनामनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानामेवोपलब्धिरनुपलब्धिश्च वेदितव्या ।

अभावश्च [1]तस्य च व्यवहारोऽभावव्यवहारौ । स्वभावानुपलब्धावभावव्यवहारः साध्यः । शिष्टेऽस्वभावः । तयोः साधन्यामनुपलब्धौ । सर्वत्र चेति चशब्दो हिशब्दस्यार्थे । यस्मात्सर्वत्रानुपलब्धौ [2]सत्यां येषां प्रतिषेध उक्तस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानां [3]दृश्यानामेव [4]स प्रतिषेधस्तस्माद् दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः । कुत एतद्दृश्यानामेवेत्याह स्वभावेत्यादि । अत्रापि चकारो हेत्वर्थः । यस्मात्स्वभावविरुद्ध आदिर्येषां तेषामुपलब्ध्या कारणमादिर्येषां तेषामनुपलब्ध्या प्रतिषेध उक्तस्तस्माद् दृश्यानामेव प्रतिषेध इत्यर्थः । यदि नाम स्वभावविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तस्तथापि कथं दृश्यानामेव प्रतिषेध इत्याह उपलब्धिरित्यादि । अत्रापि चकारो हेत्वर्थः । यस्माद्ये विरोधिनो व्याप्यव्यापकभूताः कार्यकारणभूताश्च ज्ञातास्तेषामवश्यमेवोपलब्धिरुपलब्धिपूर्वा चानुपलब्धिर्वेदितव्या । उपलब्ध्यनुपलब्धी च द्वे येषां स्तस्ते दृश्या एव । तस्मात्स्वभावविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या चोपलब्ध्यनुपलब्धिमतां विरुद्धादीनां प्रतिषेधः क्रियमाणो दृश्यानामेव कृतो द्रष्टव्यः । बहुषु चोद्येषु प्रक्रान्तेषु परिहारसमुच्चयार्थश्चकारो हेत्वर्थो भवति । यस्मादिदं चेदं च समाधानमस्ति तस्मात्तच्चोद्यमयुक्तमिति चकारार्थः ।

कस्मात्पुनः प्रतिषेध्यानां विरुद्धादीनामुपलब्ध्यनुपलब्धी वेदितव्ये इत्याह—

अन्येषां विरोधकार्यकारणभावासिद्धेः ।

उपलब्ध्यनुपलब्धिमद्भ्योऽन्येऽनुपलब्धा एव ये तेषां विरोधश्च

---

१ तस्य च व्यवहारः, ख० तद्व्यवहारश्च । २ पदमिदं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ३ दृश्यानामेव, ख० दृश्यमानानामेव । ४ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

कार्यकारणभावश्च केनचित्सहाभावश्च व्याप्यस्य व्यापकस्याभावेन सिध्यति यस्मात्ततो विरोधिकार्यकारणभावासिद्धेः कारणाद्युपलब्ध्यनुपलब्धिमन्त एव विरुद्धादयो निषेध्याः। उभयवन्तश्च दृश्या एव। तस्माद् दृश्यानामेव प्रतिषेधः। तदयमर्थः। विरोधः[1] कार्यकारणभावश्च व्यापकाभावे व्याप्याभावश्च दृश्यानुपलब्धेरेवेति। एकसंनिधावपराभावप्रतीतौ ज्ञातो विरोधः। कारणाभिमताभावे च कार्याभिमताभावप्रत्ययेऽवसितकार्यकारणभावः। व्यापकाभिमताभावे च व्याप्याभावे निश्चिते निश्चितो व्याप्यव्यापकभावः। तत्र व्याप्यव्यापकभावप्रतीतेर्निमित्तमभावः प्रतिपत्तव्यः। इह गृहीते वृक्षाभावे हि शिंशपात्वाभावप्रतीतौ प्रतीतो[2] व्याप्यव्यापकभावः। अभावप्रतिपत्तिश्च सर्वत्र दृश्यानुपलब्धेरेव। तस्माद्विरोधं कार्यकारणभावं व्याप्यव्यापकभावं च स्मरता विरोधकार्यकारणभावव्याप्यव्यापकभावविषयाभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं दृश्यानुपलब्धिः स्मर्तव्या। दृश्यानुपलब्ध्यस्मरणे विरोधादीनामस्मरणम्। तथा च सति न विरुद्धादिविधिप्रतिषेधाभ्यामितराभावप्रतीतिः स्यात्। विरोधादिग्रहणकालभाविन्यां च दृश्यानुपलब्धावश्यस्मर्तव्यायां तत एवाभावप्रतीतिः। तत्र यद्यपि सम्प्रति[3] नास्ति दृश्यानुपलब्धिर्विरोधादिग्रहणकाले त्वासीत्। या दृश्यानुपलब्धिः सम्प्रति स्मर्यमाणा सैवाभावप्रतिपत्तिनिबन्धनम्। ततः सम्प्रति नास्ति दृश्योपलब्धिरित्यभावसाधनत्वेन दृश्यानुपलब्धिप्रयोगाद्भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादिप्रयोगाः। विरुद्धविधिना कारणादिनिषेधेन च यतो दृश्यानुपलब्धिराक्षिप्ता ततो दृश्यानुपलब्धेरेव कालान्तरवृत्तायाः स्मृतिविषयभूताया अभावप्रतिपत्तिः। अमीषां च प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः। तदनेन सर्वेण दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावो दशानामनुपलब्धिप्रयोगाणां पारम्पर्येण दर्शित इति वेदितव्यम्।

उक्ता दृश्यानुपलब्धिरभावेऽभावव्यवहारे साध्ये प्रमाणम्। अदृश्यानुपलब्धिः किं स्वभावा किं व्यापारा चेत्याह—

विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्ति-

१ विरोधः, ख० विरोधश्च। २ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते। ३ सम्प्रति नास्ति, ख० सम्प्रतितनी।

लक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेरिति ।

विप्रकृष्टस्त्रिभिर्देशकालस्वभावविप्रकर्षैर्यस्याः विषयः सा विप्रकृष्टविषयेति संशयहेतुः। किं स्वभावा सेत्याह । प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिर्लक्षणं स्वभावो यस्याः सा[1] प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा[2] ज्ञानज्ञेयस्वभावेति यावत् । ननु च प्रमाणात्प्रमेयसत्ताव्यवस्था । ततः प्रमाणाभावात्प्रमेयाभावप्रतिपत्तिर्युक्तेत्याह । प्रमाणनिवृत्तावपीत्यादि । कारणं व्यापकं च निवर्तमानं कार्यं व्याप्यं च निवर्तयेत् । न च प्रमाणं प्रमेयस्य कारणं नापि व्यापकमतः प्रमाणयोर्निवृत्तावप्यर्थस्य प्रमेयस्य निवृत्तिर्न सिध्यति । ततोऽसिद्धेः संशयहेतुरदृश्यानुपलब्धिः । न निश्चयहेतुः । यत्पुनः प्रमाणसत्तया प्रमेयसत्ता सिध्यति तद्युक्तम् । प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम् । न च कारणमन्तरेण कार्यमस्ति । न तु[3] कारणान्यवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति । तस्मात्प्रमाणात्प्रमेयसत्ता व्यवस्थाप्या । न प्रमाणाभावात्प्रमेयाभावव्यवस्थेति ॥

इति न्यायविन्दुटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

---

१ पदमिदं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते। २ लक्षणा, क० लक्षणा। न ज्ञान०।
३ ननु, ख० न च।

अथ तृतीयपरिच्छेदः।

स्वार्थपरार्थानुमानयोः स्वार्थं व्याख्याय परार्थं व्याख्यातुकाम आह—

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानमिति। त्रीणि रूपाण्यन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वसंज्ञकानि यस्य तत्त्रिरूपम्। त्रिरूपं च तल्लिङ्गं च तस्याख्यानम्। आख्यायते प्रकाश्यतेऽनेनेति त्रिरूपं लिङ्गमित्याख्यानम्। किं पुनस्तद्वचनम्। वचनेन हि त्रिरूपं लिङ्गमाख्यायते। परस्मादिदं परार्थम्।

ननु च[2] सम्यग्ज्ञानात्मकमनुमानमुक्तम्। तत्किमर्थं सम्प्रति वचनात्मकमनुमानमुच्यत इत्याह।

कारणे कार्योपचारात्।

कारणे कार्योपचारादिति त्रिरूपलिङ्गाभिधानात्त्रिरूपलिङ्गस्मृतिरुत्पद्यते स्मृतेश्चानुमानम्। तस्यानुमानस्य परम्परया त्रिरूपलिङ्गाभिधानं कारणम्। तस्मिन्कारणे वचने कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते। ततः समारोपात्कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते। औपचारिकं[3] वचनमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः। न च यावत्किंचिदुपचारादनुमानशब्देन वक्तुं शक्यं तावत्सर्वं व्याख्येयम्। किं त्वनुमानं व्याख्यातुकामेनानुमानस्वरूपस्य व्याख्येयत्वान्निमित्तं व्याख्येयम्। निमित्तं च त्रिरूपं लिङ्गम्। तच्च स्वयं वा प्रतीतमनुमानस्य निमित्तं भवति परेण वा प्रतिपादितं भवति। तस्माल्लिङ्गस्य स्वरूपं [4]व्याख्येयं तत्प्रतिपादकश्च शब्दः। तत्र स्वरूपं स्वार्थानुमाने व्याख्यातम्। प्रतिपादकः शब्द इह व्याख्येयः। ततः प्रतिपादकं शब्दमवश्यं वक्तव्यं दर्शयन्ननुमानशब्देनोक्तवानाचार्य इति परमार्थः।

---

१ तल्लिङ्गं, क० लिङ्गं। २ पाठोऽत्र क० पुस्तके नैवोपलभ्यते। ३ औपचारिकम्, क० औपचारकम्। ४ पदमिदं ख पुस्तक एवोपलभ्यते। ५ व्याख्येयम्, ख० च व्याख्येयम्।

परार्थानुमानस्य प्रकारभेदं दर्शयितुमाह—

तद्द्विविधं प्रयोगभेदात् ।

तद्द्विविधमिति[1] । तदिति परार्थानुमानम् । द्वौ विधौ प्रकारौ यस्य तद्द्विविधम् । कुतो द्विविधमित्याह । प्रयोगस्य शब्दव्यापारस्य भेदात् । प्रयुक्तिः प्रयोगोऽर्थाभिधानम् । शब्दस्यार्थाभिधानव्यापारभेदाद्द्विविधमनुमानम् ।

तदेवाभिधानव्यापारनिबन्धनं द्वैविध्यं दर्शयितुमाह—

साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्चेति[2] ।

समानो धर्मो यस्य सोऽयं सधर्मा तस्य भावः साधर्म्यम् । विसदृशो धर्मोऽस्य[3] विधर्मा विधर्मणो भावो वैधर्म्यम् । दृष्टान्तधर्मिणा सह साध्यधर्मिणः सादृश्यं हेतुकृतं साधर्म्यमुच्यते । असादृश्यं च हेतुकृतं वैधर्म्यमुच्यते । तत्र यस्य साधनवाक्यस्य साधर्म्यमभिधेयं[4] तत्साधर्म्यवत् । यथा यत्कृतकं तदनित्यं यथाघटः । यथा च कृतकः शब्द[5] इत्यत्र कृतकत्वकृतं दृष्टान्तसाध्यधर्मिणोः सादृश्यमभिधेयम् । यस्य तु वैधर्म्यमभिधेयं तद्वैधर्म्यवत् । यथा यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशम् । शब्दस्तु कृतक इति । कृतकत्वाकृतकत्वकृतं शब्दाकाशयोः साध्यदृष्टान्तधर्मिणोरसादृश्यमिहाभिधेयम् ।

यद्यनयोः प्रयोगयोरभिधेयं भिन्नं कथं तर्हि त्रिरूपं लिङ्गमभिन्नं प्रकाश्यमित्याह—

नानयोरर्थतः कश्चिद्भेदोऽन्यत्र प्रयोगभेदात् ।

नानयोरर्थत इति । अर्थः[6] प्रयोजनं प्रकाशयितव्यं वस्तु[7] यदुद्दिश्यानुमाने प्रयुज्येते । ततः प्रयोजनार्दनयोर्न भेदः कश्चित् । त्रिरूपं हि लिङ्गं प्रकाशयितव्यम् । तदुद्दिश्य द्वे अप्येते प्रयुज्येते । द्वाभ्यामपि त्रिरूपं लिङ्गं

---

१ वाक्यमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । २ साधर्म्यवद्द्वैविध्यवच्चेति । ३ धर्मोऽस्य, क० 'यन्य' (अशुद्धः) 'यस्य' इत्यस्य स्थाने, ख० धर्मोस्य । ४ ख० पुस्तके मध्यस्थं पाठं त्यक्त्वा 'साधर्म्यमभिधेयं यस्य तु वैधर्म्यमभिधेयम् ।' इति पाठो विद्यते । ५ क० शब्दः । त्यत्र । ६ ख० 'अर्थः प्रयोजनं यत्प्रयोजनं प्रकाशयितव्यं वस्तु उद्दिश्य' । ७ क० 'प्रकाशयितव्यस्तु ।' ८ अनयोः, ख० नानयोः ।

प्रकाश्यत एव । ततः प्रकाशयितव्यं प्रयोजनमनयोरभिन्नम् । तथा च न ततो भेदः कश्चित् । अभिधेयभेदोऽपि तर्हि न स्यादित्याह । अन्यत्र प्रयोगभेदादिति । प्रयोगोऽभिधानं वाचकत्वम् । वाचकत्वभेदादन्यो भेदः प्रयोजनकृतो नास्तीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । अन्यदभिधेयमन्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम् । तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते । प्रकाश्यं त्वभिन्नम् । अन्वये हि कथिते वक्ष्यमाणेन न्यायेन व्यतिरेकगतिर्भवति । व्यतिरेके चान्वयगतिः । ततस्त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्यमभिन्नम् । न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र सामर्थ्यगम्योऽप्यर्थो भिद्यते । यस्मात्पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते । पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते इति । अनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदेऽपि गम्यमानमेकमेव । तद्वदिहाभिधेयभेदेऽपि गम्यमानं वस्त्वेकमेव ।

तत्र साधर्म्यवद्यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः ।

तत्रेति । तयोः साधर्म्यवैधर्म्यवतोरनुमानयोः साधर्म्यवत्तावदुदाहरणमुदाहर्तुमनुपलब्धिमाह[1] यदित्यादिना । यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं यद्दृश्यं सन्नोपलभ्यत इति । अनेन दृश्यानुपलम्भोऽनूद्यते । सोऽसद्व्यवहारस्य विषयः सिद्धः[2] । तदसदिति व्यवहर्तव्यमित्यर्थः । अनेनासद्व्यवहारयोग्यत्वस्य[3] विधिः कृतः । ततश्चासद्व्यवहारस्य योग्यत्वे दृश्यानुपलम्भो नियतः कथितः । दृश्यमनुपलब्धमसद्व्यवहारयोग्यमेवेत्यर्थः । साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम् । यथोक्तम् । व्याप्तिर्व्यापकस्य[4] तत्र भाव एव व्याप्यस्य च[5] तत्रैव भाव इति ।

व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य विषयो दृष्टान्तस्तमेव दर्शयितुमाह—

यथान्यः कश्चिद्दृष्टः शशविषाणादिः ।

यथान्य इति । साध्यधर्मिणोऽन्यो दृष्टान्त इत्यर्थः । दृष्ट इति प्रमाणेन निश्चितः । शशविषाणं हि न चक्षुषा विषयीकृतम् । अपि तु प्रमा-

---

१ 'उदाहरणमुदाहर्तुं' इति पाठो ख० पुस्तक एवोपलभ्यते, अन्यत्र तु 'उदाहरन्' इत्येवास्ति । २ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ३ योग्यत्वस्य, ख० योग्यत्वे । ४ व्याप्तिः, क० व्याप्ति० । ५ च, क० वा ।

येन दृश्यानुपलम्भेनासद्व्यवहारयोग्यं विज्ञातम् । शशविषाणमादिर्यस्यासद्व्यवहारविषयस्य स तथोक्तः[1] । शशविषाणादौ हि दृश्यानुपलम्भमात्र[2]निमित्तोऽसद्व्यवहारः प्रमाणेन सिद्धः । तत एव प्रमाणादनेन वाक्येनाभिधीयमाना व्याप्तिर्ज्ञातव्या ।

सम्प्रति व्याप्तिं कथयित्वा दृश्यानुपलम्भस्य पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह—

नोपलभ्यते च क्वचित्प्रदेशविशेष उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इति ।

नोपलभ्यते चेति । प्रदेश एकदेशः पृथिव्याः । स एव विशिष्यतेऽन्यस्मादिति विशेषः । एकः प्रदेशविशेष इत्येकस्मिन्प्रदेशे क्वचिदिति । प्रतिपत्तुः प्रत्यक्ष एकोऽपि प्रदेशः स एवाभावव्यवहाराधिकरणं यः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षो नान्यः । उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति दृश्यः । यथा चासतोऽपि घटस्य समारोपितमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तथा व्याख्यातम् ।

स्वभावहेतोः साधर्म्यवन्तं प्रयोगं दर्शयितुमाह—

तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः—

यत्सत्तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति ।

तथेति । यथानुपलब्धेस्तथा स्वभावहेतोः साधर्म्यवान्प्रयोग इत्यर्थः । यत्सदिति सत्त्वमनूद्य तत्सर्वमनित्यमित्यनित्यत्वं विधीयते । सर्वग्रहणं च नियमार्थम् । सर्वमनित्यं न किंचिन्नानित्यं यत्सत्तदनित्यमेवानित्यत्वादन्यत्र नित्यत्वे सत्वं नास्तीत्येवं सत्त्वमनित्यत्वे साध्ये नियतं ख्यापितं भवति[3] । तथा च सति व्याप्तिप्रदर्शनवाक्यमिदम् । यथा घटादिरिति । व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य विषयकथनमेतत् ।

शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः ।

शुद्धस्येति । निर्विशेषणस्य स्वभावस्य प्रयोगः[4] ।

---

१ शशविषाणादिः । २ मात्र०, ख० मात्रः । ३ बौद्धनये यत्सत्तत्सर्वमनित्यं घटादिवत् । न किञ्चिद्वस्तु तेषां मते नित्यमस्ति । ४ प्रयोगः । सविशेषणं, ख० प्रयोगस्य विशेषणम् ।

सविशेषणं दर्शयितुमाह—

यदुत्पत्तिमत्तदनित्यमिति ।

यदुत्पत्तिमदिति । उत्पत्तिः स्वरूपलाभो यस्या[1]स्ति तदुत्पत्तिमत्[2] । उत्पत्तिमत्त्वमनूद्य तदनित्यमित्यनित्यत्वविधे[3]ः । तथा च सत्युत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वे निय[4]तमाख्यातम् ।

स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः ।

स्वभावभूतः स्वभावात्मको धर्मस्तस्य भेदेन भेदं हेतूकृत्य प्रयोगः । अनुत्पन्नेभ्यो हि व्यावृत्तिमाश्रित्योत्पन्नो भाव उच्यते । सैव व्यावृत्तिः यदा व्यावृत्त्यन्तरनिरपेक्षा वक्तुमिष्यते तदा व्यतिरेकिणीव निर्दिश्यते भावस्योत्पत्तिरिति । तथा च व्यतिरिक्तयेवोत्पत्त्या विशिष्टं वस्तूत्पत्तिमदुक्तम् । तेन स्वभावभूतेन धर्मेण कल्पितभेदेन विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्तो द्रष्टव्यः ।

यत्कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन ।

यत्कृतकमिति । कृतकत्वमनूद्यानित्यत्वं विधीयत इति । अनित्यत्वे[5] नियतं कृतकत्वमुक्तमतो व्याप्तिरनित्यत्वेन कृतकस्य दर्शिता । उपाधिभेदेन स्वभावस्य प्रयोग इति सम्बन्धः । उपाधिर्विशेषणम् । तस्य भेदेन भिन्नेनोपाधिना विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्त इत्यर्थः । इह कदाचिच्छुद्ध एवार्थ उच्यते । कदाचिदव्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः । कदाचिद्व्यतिरिक्तेन । देवदत्त इति शुद्धः । लम्बकर्ण इत्यभिन्नकर्णद्वयविशिष्टः । चित्रगुरिति व्यतिरिक्तचित्रगवीविशिष्टः । तद्वत्सत्त्वं शुद्धमुत्पत्तिमत्त्वमव्यतिरिक्तविशेषणम् । कृतकत्वं व्यतिरिक्तविशेषणम् ।

ननु च चित्रगुशब्दे व्यतिरिक्तस्य विशेषणस्य वाचकश्चित्रशब्दो गोशब्दश्चास्ति । कृतकशब्दे तु निर्विशेषणवाचिनः शब्दस्य प्रयोगोऽस्तीत्याशङ्क्याह ।

---

१ यस्य, ख० स यस्य । २ उत्पत्तिमत्, क० उत्पत्तिमत्, यदुत्पत्तिमदि[ति] ३ विधेः, ख० विधिः । ४ नियतं व्याप्तमित्यर्थः । ५ अनित्यत्वे, क० अनियत[त्वे]

अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति।

अपेक्षितेति। परेषां कारणानां व्यापारः स्वभावस्य निष्पत्तौ निष्पत्त्यर्थमपेक्षितः परव्यापारो येन स तथोक्तः। हीति यस्मादर्थे। यस्मादपेक्षितपरव्यापारः कृतक उच्यते तस्माद्व्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः स्वभाव उच्यते। यद्यपि व्यतिरिक्तं विशेषणपदं न[२] प्रयुक्तं तथापि कृतकशब्देनैव व्यतिरिक्तं विशेषणमन्तर्भावितमत[३] एव संज्ञाप्रकारोऽयं कृतकशब्दः। यस्मात्संज्ञायामयं कन्प्रत्ययो विहितः। यत्र च विशेषणमन्तर्भाव्यते तत्र विशेषणपदं न प्रयुज्यते। क्वचित्प्रतीयमानं विशेषणं यथा कृत इत्युक्ते हेतुभिरित्येतत्प्रतीयते। तत्र च[४] हेतुशब्दः प्रयुज्यते। कदाचिन्न वा प्रयुज्यते। प्रयुज्यमानस्वशब्दश्च यथा प्रत्यय[५]भेदभेदिशब्दे प्रत्ययभेदः।

एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः।

यथा च कृतकशब्दो भिन्नविशेषणस्वभावाभिधाय्येवं प्रत्ययभेदभेदित्वमादिर्येषां प्रयत्नानन्तरीयकत्वादीनां तेऽपि स्वभावहेतोः प्रयोगा भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायिनो द्रष्टव्याः। प्रत्ययानां कारणानां भेदो विशेषस्तेन प्रत्ययभेदेन भेत्तुं शीलं यस्य स प्रत्ययभेदभेदी शब्दस्तस्य भावः प्रत्ययभेदभेदित्वम्। ततः प्रत्ययभेदभेदित्वाच्छब्दस्य कृतकत्वं साध्यते। प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यत्वं साध्य[६]ते। तत्र प्रत्ययभेदशब्दो व्यतिरिक्तविशेषणाभिधायी प्रत्ययभेदभेदिशब्दे प्रयुक्तः। प्रयत्नानन्तरीयकशब्दे च प्रयत्नशब्दः। तदेवं त्रिविधः स्वभावहेतुप्र[७]योगो दर्शितः। शुद्धोऽव्यतिरिक्तविशेषणो व्यतिरिक्तविशेषणश्च। एव[८]मर्थं चैतदाख्यातम्। वाचकभेदान्मा भूत्कस्यचित्स्वभावहेतावपि प्रयुक्ते व्यामोह इति।

सन्नुत्पत्तिमान्कृतको वा शब्द इति पक्षधर्मोपदर्शनम्।

---

१ कृतकस्य लक्षणमिदम्। २ न, ख० न च। ३ विशेषणं, ख विशेषणपदम्। ४ इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते। ५ प्रत्ययभेदभेदिशब्दे, ख० प्रत्ययभेदशब्दे। ६ पदमिदं ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते। ७ क० प्रयोगः, ख० योगः। ८ एवमर्थं, ख० एतदर्थम्। किञ्चिदपि टीकाकारेणास्योपरि न लिखितम्।

सर्व एते साधनधर्मा यथास्वं प्रमाणैः सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्ध एव साध्यधर्मेऽवगन्तव्याः ।

अथ किमेते स्वभावहेतवः सिद्धसंबन्धे स्वभावे साध्ये प्रयोक्तव्याः, आहोस्विदसिद्धसंबन्ध इत्याशङ्क्य सिद्धसंबन्धे प्रयोक्तव्या इति दर्शयितुमाह । सर्व एत इति । गमकत्वात्[1]साधनानि पराश्रितत्वाच्च धर्माः साधनधर्मा एव साधनधर्ममात्रम् । मात्रशब्देनाधिकस्यापेक्षणीयस्य निरासः । तस्यानुबन्धोऽनुगमनमन्वयः सिद्धः साधनधर्ममात्रानुबन्धो यस्य स तथोक्तः । केन सिद्ध इत्याह । यथा स्वं प्रमाणैरिति[2] । यस्य साध्यधर्मस्य[3] यदात्मीयं प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन सिद्ध इत्यर्थः । स्वभावहेतूनां च बहुभेदत्वात् । संबन्धसाधनान्यपि प्रमाणानि बहूनीति प्रमाणैरिति बहुवचननिर्देशः । गमयितव्यत्वात्साध्यः पराश्रितत्वाच्च धर्मः साध्यधर्मस्तद्यं परमार्थः । न हेतुः प्रदीपवद्योग्यतया गमकोऽपि तु नान्तरीयकतया विनिश्चितः । साध्याविनाभावित्वनिश्चयनमेव हि[4] हेतोः साध्यप्रतिपादनव्यापारो नान्यः कश्चित् । प्रथमं बाधकेन प्रमाणेन साध्यप्रतिबन्धो निश्चेतव्यो हेतोः पुनरनुमानकालेन साधनं साध्यानन्तरीयकं सामान्येन स्मर्तव्यम् । कृतकत्वं नामानित्यत्वस्वभावमिति सामान्येन स्मृतमर्थं[5] पुनर्विशेषे योजयतीदमपि कृतकत्वं शब्दे वर्तमानमनित्यस्वभावमेवेति । तत्र सामान्यस्मरणं लिङ्गज्ञानम् । विशिष्टस्य तु शब्दगतकृतकस्यानित्यत्वस्वभावस्य स्मरणमनुमानज्ञानम् । तथा च सत्यविनाभावित्वज्ञानमेव परोक्षार्थप्रतिपादकत्वं नाम । तेन निश्चिततन्मात्रानुबन्धिसाध्यधर्मे स्वभावहेतवः प्रयोक्तव्या नान्यत्रेत्युक्तम् ।

यद्येवं सम्बन्धो निश्चेतव्यः । साध्यस्य साधनेन सह साधनधर्ममात्रानुबन्धस्तु साध्यस्य कस्मान्निश्चितो मृग्यत इत्याह । तस्यैवेति[6] । सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्धस्य ।

---

१ गमकत्वात्, क० गमत्वात् । २ 'इति' इति पाठः ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ३ पाठोऽयं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ४ 'हि' इति पाठः ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते । ५ स्मृतमर्थम्, ख० स्मृतमर्थाय । ६ नायं 'तस्यैवेति' मूलेऽवलोक्यते । तस्मादस्माकं सम्मतौ किञ्चिच्छब्दं वाक्यं वाऽऽत्र परित्यक्तम् , मूलपुस्तकस्य लेखकेन प्रमाद्वशात् ।

तत्स्वभावत्वात्स्वभावस्य च हेतुत्वात् ।

तत्स्वभावत्वादिति । साधनधर्मस्वभावत्वात् । यो हि साध्यधर्मः साधनधर्ममात्रानुबन्धवान्स एव तस्य साधनधर्मस्य स्वभावो नान्यः। भवत्वीदृश एव स्वभावः । स्वभाव एव तु साध्ये कस्माद्धेतुप्रयोगः । स्वभावस्य हेतुत्वात् । स्वभाव [1]इह हेतुः प्रक्रान्तः । तस्मात्स एव साध्यः कर्तव्यः । यः साधनस्य स्वभावः स्यात्साधनधर्ममात्रानुबन्धं[2]श्च स्वभावो नान्यः ।

यदि साध्यधर्मः साधनस्य स्वभावः प्रतिज्ञार्थैकदेशस्तर्हि हेतुः स्यादित्याह ।

वस्तुतस्तयोस्तादात्म्यात्तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत्स्वभावत्वाभावाद्व्यभिचारसंभवाच्च ।

वस्तुत इति । वस्तुतः परमार्थतः साध्यसाधनयोस्तादात्म्यम् । समारोपितस्तु साध्यसाध[3]नयोर्भेदः । साध्यसाधनभावो हि निश्चयारूढे रूपे । निश्चयारूढं च रूपं समारोपितेन भेदेनेतरव्यावृत्तिकृतेन भिन्नमित्यन्यत्साधनमन्यत्साध्यम् । दूराद्धि शाखादिमानर्थो[4] वृक्ष इति निश्चीयते न शिंशपेति । अथ च स एव वृक्षः । सैव शिंशपा । तस्मादभिन्नमपि वस्तु निश्चयो भिन्नमादर्शयति व्यावृत्तिभेदेन । तस्मान्निश्चयारूढरूपापेक्षयान्यत्साधनमन्यत्साध्यम् , अतो न प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुर्वास्तवं च तादात्म्यमिति । कस्मात्पुनः साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येवं[5] साध्यः स्वभावो नान्य इत्याह । तन्निष्पत्ताविति । यो हि यन्नानुबध्नाति स तन्निष्पत्तावनिष्पन्नः[6] । तस्य तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य साधनस्वभावत्वमयुक्तम् । यतो निष्पत्त्यनिष्पत्ती भावाभावरूपे । भावाभावौ च परस्परपरिहारेण स्थितौ । यदि च पूर्वनिष्पन्नस्यानिष्पन्नस्य चैक्यं भवेत् , एकस्यैवार्थस्य भावाभावौ स्यातां युगपन्न च विरुद्धयोर्भावाभावयोरैक्यं युज्यते । विरुद्धधर्मसंसर्गात्मकत्वा-

---

१ इह, ख० एव । २ अनुबन्धश्च स्वभावः, ख० अनुबन्धवांश्च भावः । ३ साध्यसाधनयोः, ख० साध्यसाधनभेदः । ४ 'अर्थो' इत्यस्य स्थाने मुद्रितपुस्तके 'अथो' इति पाठो विद्यते । यश्चास्माकं सम्मतौ अशुद्ध एव । ५ अनुबन्ध्येव, ख० अनुबन्धे च । ६ क० स तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य साधन० ।

देकत्वाभावस्य। किं च पश्चादुत्पद्यमानं पूर्वनिष्पन्नाद्भिन्नहेतुकम्। हेतुभेदपूर्वकश्च कार्यभेदः। ततो निष्पन्नानिष्पन्नयोर्विरुद्धधर्मसंसर्गात्मको भेदो भेदहेतुश्च कारणभेद इति कुत एकत्वम्। तस्मात्साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव साध्यः स्वभावो नान्यः। मा भूत्पश्चान्निष्पन्नः पूर्वजस्य स्वभावः। साध्यस्तु कस्मान्न भवतीत्याह। पूर्वजेन पश्चान्निष्पन्नस्य व्यभिचारः परित्यागो यस्तस्य संभवाच्च। न पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चानिष्पन्नः साध्यः। तस्मात्साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव स्वभावः। स एव च साध्याः। तथा च सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्ध एव स्वभावहेतवः प्रयोक्तव्या इति स्थितम्।

कार्यहेतोरपि प्रयोगः। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसादावस्ति चेह धूम इति। इहापि सिद्ध एव। कार्यकारणभावे कारणे साध्ये कार्यहेतुर्वक्तव्यः।

कार्यहेतोः प्रयोगः साधर्म्यवानिति प्रकरणादपेक्षणीयम्। यत्र धूम इति। धूममनूद्य तत्राग्निरित्यग्नेर्विधिः। तथा च नियमार्थः पूर्ववदनुगन्तव्यः। तदनेन कार्यकारणभावनिमित्ता व्याप्तिर्दर्शिता। व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयं दर्शयितुमाह। यथा महानसादाविति। महानसादौ हि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कार्यकारणभावात्माविनाभावो निश्चितः। अस्ति चेहेति। साध्यधर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारः। इहापीति। न केवलं स्वभावहेताविहापि कार्यहेतौ सिद्ध एवेति। निश्चिते कार्यकारणत्वे कार्यकारणत्वनिश्चयो ह्यवश्यकर्तव्यः। यतो न योग्यतया हेतुर्गमकोऽपि तु नान्तरीयकत्वादित्युक्तम्। साधर्म्यवान्स्वभावकार्यानुपलम्भानां प्रयोगो दर्शितः।

वैधर्म्यवन्तं दर्शयितुमाह—

वैधर्म्यवतः प्रयोगो यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एव। यथा नीलादिविशेषः। न चैवमिहोप-

---

१ स्वभावः। स एव च साध्यः। तथा च सिद्धसाधन०, ख० यः स्वभावः स एव च साध्यस्वभावः सिद्धसाधन०। २ स्वभावहेतवः, ख० स्वभावे स्वभावहेतवः। ३ अग्नेः, ख० अग्नि०। ४ कार्यहेतौ, ख० कार्यहेतोः। ५ कार्यकारणत्व०, ख० कार्यकारणभाव०।

लब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येत्यनुपलब्धि-प्रयोगः ।

वैधर्म्यवत इति । यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति । यत्सादृश्यमित्यस्तित्वानुवादः । तदुपलभ्यते इति उपलम्भविधिः । तदनेन दृश्यस्य सत्त्वं दर्शनविषयत्वेन व्याप्तं कथितमसत्त्वनिवृत्तिश्च । सत्त्वमनुपलम्भनिवृत्तिश्चोपलम्भः । तेन साध्यनिवृत्यनुवादेन साधननिवृत्तिर्विहिता । तथा च साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्तौ नियतत्वात्साधननिवृत्त्या व्याप्ता कथिता । यदि च धर्मिणि साध्यधर्मो न भवेद्धेतुरपि[1] । हेत्वभावेन साध्याभावस्य व्याप्तत्वात् । अस्ति च हेतुरतो व्यापकस्य साधनाभावस्याभावाद्व्याप्यस्य साध्याभावस्याभाव इति साध्यनिश्चयो भवति । ततो वैधर्म्यप्रयोगे साधनाभावे साध्याभावो नियतो[2] दर्शनीयः सर्वत्रेति न्यायः ।

स्वभावहेतोर्वैधर्म्यप्रयोगमाह—

असत्यनित्यत्वे नास्ति सत्त्वमुत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्वं वा । असंश्च शब्द उत्पत्तिमान्कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः ।

असत्यनित्यत्व इति । इहानित्यत्वस्य[3] साध्यस्याभावो हेतोरभावे नियत[4] उच्यते । तेन हेत्वभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तः । त्रिष्वपि स्वभावहेतुषु सन्नुत्पत्तिमान्कृतको वा शब्द इति त्रयाणामपि पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम् । इह च साधनाभावस्य व्यापकस्याभाव उक्तः । ततो व्याप्योऽपि साध्याभावो निवृत्त[5] इति साध्यगतिः ।

कार्यहेतोर्वैधर्म्यप्रयोगमाह[6]—

असत्यग्नौ न भवत्येव धूमोऽत्र चास्तीति कार्यहेतोः प्रयोगः ।

असत्यग्नाविति । इहापि वह्न्यभावो धूमाभावेन व्याप्त उक्तः ।

---

१ 'हेतुरपि' इति पाठः क० पुस्तके नोपलभ्यते । २ नियतः ख० नियमः । ३ मुद्रितपुस्तकस्य 'अनित्यत्वस्य' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते । ४ नियतः, ख० नियमः । ५ निवृत्तः, ख० निवर्त्तते । ६ वैधर्म्यप्रयोगम्, ख० वैधर्म्यवत्प्रयोगम् ।

अस्ति चात्र धूम इति व्यापकस्य धूमाभावस्याभाव उक्तः। ततो व्याप्यस्य वह्न्यभावस्याभावे साध्यगतिः।

ननु च साधर्म्यवति[1] व्यतिरेको नोक्तः। वैधर्म्यवति चान्वयः। तत्कथमेतत्त्रिरूपलिङ्गाख्यानमित्याह—

साधर्म्येणापि हि प्रयोगेऽर्थाद्वैधर्म्यगतिरिति। असति तस्मिन्साध्येन हेतोरन्वयाभावात्।

साधर्म्येणेति। साधर्म्येणाप्यभिधेयेन युक्ते प्रयोगे क्रियमाणेऽर्थादिति सामर्थ्याद्वैधर्म्यस्य व्यतिरेकस्य गतिर्भवतीति। हीति[2] यस्मात्। तस्मात्त्रिरूपलिङ्गाख्यानमेतत्। यदि नाम व्यतिरेकोऽन्वयवति नोक्तो तथाप्यऽ[3]न्वयवचनसमर्थ्यादेवावसीयते। कथम्? असति तस्मिन्व्यतिरेके[4] बुद्ध्यव्यवसिते साध्येन हेतोरन्वयस्य बुद्ध्यवसितस्या[5]भावात्। साध्ये नियतं साधनमन्वयवाक्यादवस्यता साध्याभावे साधनं नाशङ्कनीयम्। इतरथा साध्यनियतमेव न प्रतीतं स्यात्साध्याभावे च साधनाभावगतिर्व्यतिरेकगतिः। अतः साध्यनियतस्य साधनस्याभिधानसामर्थ्यादन्वयवाक्येऽवसितो व्यतिरेकः।

तथा वैधर्म्येणाप्यन्वयगतिः। असति तस्मिन् साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेः।

तथेति। यथान्वयवाक्ये तथार्थादेव वैधर्म्येण प्रयोगेऽन्वयस्यानभिधीयमानस्यापि गतिः। कथमसति तस्मिन्नन्वये बुद्धिगृहीते ते[6] साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेरनवसायात्। हेत्वभावे साध्याभावं नियतं व्यतिरेकवाक्यादवस्यता हेतुसम्भवे साध्याभावो नाशङ्कनीयः। इतरथा हेत्वभावे नियतः साध्याभावो न स्यात्प्रतीतः। हेतुसत्त्वे च साध्यसत्त्व[7]गतिरन्वयगतिः। अतः साधनाभावनियतस्य साध्याभावस्याभिधानसामर्थ्याद्व्यतिरेकवाक्येऽन्वयगतिः।

---

१ साधर्म्यवति व्यतिरेकः, ख० साधर्म्यव्यतिरेकः। २ 'इति' इति पाठः ख० पुस्तके नैवोपलभ्यते। ३ ख० तथाप्यन्वयवचनसामर्थ्यात्। ४ क० व्यतिरेक०। ५ ख० बुद्ध्यवसितस्य। ६ पदमिदं ख० पुस्तके नावलोक्यते। ७ क० साध्यसत्त्व।

यदि नामाकाशादौ साध्याभावे साधनाभावस्तथापि किमिति हेतुसम्भवे साध्यसम्भव इत्याह—

न हि स्वभावप्रतिबन्धे सत्येकस्य निवृत्तावपरस्य नियमेन निवृत्तिः ।

नहीति । स्वभावेन प्रतिबन्धो यस्तस्मिन्नसत्येकस्य साध्यस्य निवृत्त्या नापरस्य साधनस्य नियमेन युक्ता नियमवती निवृत्तिः ।

स च द्विप्रकारः । सर्वस्य तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्तम् ।

स च स्वभावप्रतिबन्धो द्विप्रकारः सर्वस्य[1] । तादात्म्यं लक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । तदुत्पत्तिलक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । यो यत्र प्रतिबद्धस्तस्य स प्रतिबन्धविषयोऽर्थः स्वभावः कारणं वा स्यात् । अन्यस्मिन्प्रतिबद्धत्वानुपपत्तेः । तस्माद्द्विप्रकारः स इत्युक्तम् । स च साध्येऽर्थे लिङ्गस्येत्यत्रान्तरेऽभिहितः ।

तेन हि निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः ।

हिर्यस्मादर्थे । यस्मात्स्वभावप्रतिबन्धे निवर्त्यनिवर्तकभावस्तेन साध्यस्य निवृत्तौ साधनस्य निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो निवर्त्यनिवर्तकयोर्दर्शनीयः ।

तस्मान्निवृत्तिवचनमाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनमेव भवति ।

यदि हि साधनं साध्ये प्रतिबद्धं भवेदेवं साध्यनिवृत्तौ तन्नियमेन निवर्तेत । यतश्च तस्य प्रतिबन्धो दर्शनीयस्तस्मात्साध्यनिवृत्तौ यत्साधननिवृत्तिवचनं तेनाक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनम्[2] । यच्च तदाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनम्[3] । प्रतिबन्धश्चेदवश्यं दर्शयितव्यः । न वक्तव्यस्तर्ह्यन्वयः ।

यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनमित्येकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षा-

---

१ ख० सर्वस्य प्रतिबद्धस्य । २ 'तत्' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ३ ख० तेनाक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनम् तदेवान्वयवचनम् ।

सपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यवाक्यद्वयप्रयोगः ।

यस्माद्दृष्टान्ते प्रमाणेन प्रतिबन्धो दर्श्यमान एवान्वयो नापरः कश्चित्तस्मान्निर्वर्त्य[1]निवर्तकप्रतिबन्धो ज्ञातव्यः । तथा चान्वय एव ज्ञातो भवति । इतिशब्दो हेतौ । यस्मादन्वये[2] व्यतिरेकगतिर्व्यतिरेके चान्वयगतिस्तस्मादेकेनापि सपक्षे चासपक्षे च सत्त्वासत्त्वयोः ख्यापनं कृतम् । अन्वयो मुखमुपायोऽभिधेयत्वाद्यस्य तदन्वयमुखं वाक्यम् । एवं व्यतिरेको मुखं यस्येति । इति[3] हेतौ । यस्मादेकेनापि वाक्येन द्वयगतिस्तस्मादेकस्मिन्साधनवाक्ये द्वयोरन्वयव्यतिरेकवाक्ययोरवश्यमेव प्रयोगो न कर्तव्यः । अर्थगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः । अर्थश्चेदवगतः किं शब्दप्रयोगेण । एकमेव त्व[4]न्वयवाक्यं व्यतिरेकवाक्यं वा प्रयोक्तव्यम् ।

अनुपलब्धावपि यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेत्युक्तेऽनुपलभ्यमानं तादृशमसदिति प्रतीतेरन्वयसिद्धिः ।

अनुपलब्धावपि व्यतिरेकेणो[5]क्तेनान्वयगतिः । यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति । साध्यस्यासद्व्यवहारयोग्यत्वस्य निवृत्तिदृश्यसत्वरूपमाह । तदुपलभ्यत एवेति । अनुपलम्भस्य निवृत्तिमुपलम्भरूपामाह । तदनेन साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता । यदि च साधनसम्भवेऽपि साध्यनिवृत्तिर्भवेन्न साधनाभावेन व्याप्ता भवेत् । अतो व्याप्तिं[6] प्रतिपद्यमानेन साधनसम्भवः साध्यसम्भवेन व्याप्तः प्रतिपत्तव्यः । अत एवाहानुपलभ्यमानतादृशमिति । दृश्यमसदिति प्रतीतेः[7] संप्रत्ययादन्वयसिद्धिरिति ।

द्वयोरप्यनयाः प्रयोगेऽवश्यं पक्षनिर्देशः ।

---

१ निवर्त्यनिवर्तक०, ख० निवर्त्यनिवर्तकयोः । २ अन्वये, ख० अन्वयेऽपि । ३ क० इतिकरणो हेतौ । ४ 'तु' इति पदं ख० पुस्तके नास्त्येव । ५ उक्तेन, ख० युक्तन । ६ क० व्याप्तिप्रतिपद्यमानेन । ७ पदमिदं क० पुस्तके न विद्यते ।

यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयोस्तस्मात्पक्षोऽवश्यमेव न निर्देश्यः।[1]

यत्साधनं साध्यनियतं प्रतीतं तत एव साध्यधर्मिणि दृष्ट्वा साध्यप्रतीतिरतो न किंचित्साध्यनिर्देशेनेत्येवमेवार्थमनुपलब्धिप्रयोगे दर्शयति।

यस्मात्साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपभ्यते सोऽसद्व्यवहाराविषयः।

साधर्म्यवति प्रयोगेऽपि सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति। किं पुनस्तत्सामर्थ्यमित्याह। यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति।[2] अनुपलम्भानुवादः सोऽसद्व्यवहारविषय इत्यसद्व्यवहारयोग्यत्वविधिः। तथा च सति दृश्यानुपलम्भोऽसद्व्यवहारयोग्यत्वेन व्याप्तो दर्शितः।

नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति।

नोपलभ्यत इत्यादिना साध्यधर्मिणि सत्वं लिङ्गस्य दर्शितम्। यदि च साध्यधर्मस्तत्र साध्यधर्मिणि न भवेत्साधनधर्मोऽपि न भवेत्। साध्यनियतत्वात्तस्य साधनधर्मस्येति सामर्थ्यम्।

तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धिलक्षणप्राप्तः स उपलभ्यत एव न तथात्र तादृशो घट उपलभ्यत इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति।

यथा साधर्म्यवत्प्रयोगे तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषयोऽस्ति घट इति भवति। सामर्थ्यं दर्शयितुमाह। यः सद्व्यवहारविषय इति विद्यमानः। उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति दृश्यः। इत्येषा साध्यनिवृत्तिरुपलभ्यत एवेति साधननिवृत्तिरित्यनेन न साध्य-

१ ख० पुस्तकस्य पाठः 'प्रयोगयोः' इत्यस्मादारभ्य 'घट इति भवति' पर्यन्तं न सम्यक्पठ्यते। २ यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति, ख० यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यत इति।

निवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता । न तथेति । यथान्यो दृश्य उपलभ्यते न तथात्र प्रदेशे तादृश इति दृश्यो घट उपलभ्यत इत्यनेन साध्यनिवृत्तेर्व्यापिका साधननिवृत्तिरसती साध्यधर्मिणि दर्शिता ।

कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्देश्यः ।

यदि च न साध्यधर्मः साध्यधर्मिणि भवेत्साधनधर्मोऽपि न भवेदस्ति च साधनधर्म इति सामर्थ्यात्ततः सामर्थ्यान्नास्त्यत्र घट इति प्रतीतेर्न पक्षनिर्देशः । एवं कार्यस्वभावहेत्वोरपि सामर्थ्यात्सम्प्रत्यय इति न पक्षनिर्देशः ।

कीदृशः पुनरर्थः पक्ष इत्यनेन शब्देन निर्देश्यो वक्तव्य इत्याह ।

स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽ[1]निराकृत पक्ष इति ।

स्वरूपेणैवेति । साध्यत्वेनैव[2] स्वयमिति वादिना इष्ट इति नोक्त एवापि त्विष्टोऽपीत्यर्थः । एवंभूतः सन्प्रत्यक्षादिभिरनिराकृतो योऽर्थः[3] स पक्ष इत्युच्यते । अथ यदि न पक्षो निर्देश्यः कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम् । न साधनवाक्यावयवत्वादस्य लक्षणमुक्तमपि त्वसाध्यं[4] केचित्साध्यं साध्यं चासाध्यं प्रतिपन्नाः । तत्साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम् ।

स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः । स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनेष्टो न साधनत्वेनापि ।

स्वरूपेणेष्ट इत्यस्य विवरणम् । साध्यत्वेनेष्ट इति पक्षस्य साध्यत्वान्नापरमस्तिरूपम् । अतः स्वरूपं साध्यत्वमिति । एवशब्दं विवरीतुमाह । स्वरूपेणैवेति ।

ननु चैवशब्दः केवल एव प्रत्यवमर्ष्टव्यस्तत्किमर्थं[5] स्वरूपशब्देन सह प्रत्यवमृष्टः । उच्यते । एवशब्दो निपातो द्योतकः । पदान्तराभिहितस्यार्थस्य विशेषं द्योतयतीति पदान्तरेण विशेष्यवाचिना सह निर्दिष्टः । न

---

१ मुद्रितपुस्तकस्य 'इष्टो किराकृतः' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते । २ क० साध्यत्वेनैवास्वयमिति । ३ अर्थः, ख० अर्थो यः । ४ असाध्यं केचित्साध्यं साध्यं चासाध्यं प्रतिपन्नाः, ख० असाध्यं किंचित्साध्यं साध्यं चासाध्यं केचित्प्रतिपन्नाः । ५ तत्किमर्थम्, ख० तत्कथम् ।

साधनत्वेनापीति। यत्साधनत्वेन निर्दिष्टं तत्साधनत्वेनेष्टमसिद्धत्वाच्च[1] साध्यत्वेनापीष्टं तस्य निवृत्त्यर्थ एवशब्दः तदुदाहरति[2]।

यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः।

यथेति। शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः।

शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यं न पुनस्तादिह साध्यत्वेनैवेष्टं साधनत्वेनाप्यभिधानात्।

शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यमित्यनेन साध्यत्वेनेष्टिमाह। तदिति। चाक्षुषत्वमिहेति शब्दे न साध्यत्वेनैवेष्टमिति। साध्यत्वेनेष्टिनियमाभावमाह। साधनत्वेनाभिधानादिति। यतः साधनत्वेनाभिहितमतः साधनत्वेनापीष्टम्। न साध्यत्वेनैवेति।

स्वयमिति वादिना यस्तदा साधनमाह। एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनमाह। तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति।

स्वयमित्यनेन स्वयंशब्दं व्याख्येयमुपदिश्य तस्यार्थमाह। वादिनेति। स्वयंशब्दो निपातः। आत्मन इति षष्ठ्यन्तस्यात्मनेति च तृतीयान्तस्यार्थे[3] वर्तते। तदिह तृतीयान्तस्यात्मशब्दस्यार्थे वृत्तः स्वयंशब्दः। आत्मशब्दश्च सम्बन्धिशब्दो वादी च प्रत्यासन्नभूतो यस्य वादिन आत्मा तृतीयार्थयुक्तः स एवं[4] तृतीयार्थयुक्तो निर्दिष्टो वादिनेति। ननु स्वयंशब्दस्य वादिनेत्येष पर्यायः। कः पुनरसौ वादीत्याह। यस्तदेति। वादकाले साधनमाह। अनेकवादिसम्भवेऽपि[5] स्वयंशब्दवाच्यस्य वादिनो विशेषणमेतद् यद्येव वादिन इष्टः साध्य इत्युक्तम्। एतेन च किमुक्तेन। अनेन तदा

---

१ 'च' इति पदं ख० पुस्तके नैवावलोक्यते। २ उदाहरति, ख० उदाहरति यथेति। ३ तृतीयान्तस्यार्थे वर्तते, ख० तृतीयान्तस्यार्थेन युक्तः। ४ 'एव इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते। ५ 'अपि' इति पदं ख० पुस्तके नास्त्येव।

वादकाले तेन वादिना स्वयं यो धर्मः साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतरो धर्म इत्युक्तं भवति । वादिनोऽनिष्टधर्मसाध्यत्वनिवर्तनमस्य वचनस्य फलमिति यावत् । अथ कस्मिन्सत्यन्यधर्मसाध्यत्व[2]संभवो यन्निवृत्त्यर्थं चेदं[3] वक्तमित्याह । तच्छास्त्रकारेणेति । यच्छास्त्रं तेन वादिनाभ्युपगतं तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्साध्यधर्मिण्यनेकस्य धर्मस्याभ्युपगमे सत्यन्यधर्मसाध्यत्वसंभवः । तथा हि शास्त्रं येनाभ्युपगतं तत्सिद्धो धर्मः सर्व एव तेन साध्य इत्यस्ति विप्रतिपत्तिरनेनापास्यते । अनेकधर्माभ्युपगमेऽपि सति स एव साध्यो यो वादिन इष्टो नान्य इति ।

ननु च शास्त्रानपेक्षं वस्तुबलप्रवृत्तं लिङ्गम् । अतोऽनपेक्षणीयत्वान्न शास्त्रे स्थित्वा वादः कर्तव्यः । सत्यम् । आहोपुरुषिकया तु यद्यपि कश्चिच्छास्त्रे स्थित इति किंचिच्छास्त्रमभ्युपगतः साधनमाह । तथापि य एव त[4]स्येष्टः स एव साध्य इति ज्ञापनायेदमुक्तम्—

इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यस्तदधिकरणत्वाद्विवादस्य ।

इष्ट इति । इष्टशब्दमुपादित्स्य व्याचष्टे । यत्रार्थ आत्मनि विरुद्धो वादः प्रक्रान्तो नास्त्यात्मेत्यात्मप्रतिषेधवाद आत्मसत्तावादविरुद्धो विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात् । तेन विवादेन हेतुना साधनमुपन्यस्तम् । तस्यात्मार्थस्य सिद्धिं निश्चयमिच्छता वादिना सोऽर्थः साध्य इत्युक्तं भवतीष्टशब्देन । यत्तदित्युक्तं भवतीतिग्रहणमन्ते तदिहापेक्ष्य वाक्यं परिसमापयितव्यम् । यद्यपि परार्थानुमान उक्त एव साध्यो युक्तोऽनुक्तोऽपि तु वचनेन साध्यः सामर्थ्योक्तत्वात्तस्य । कुत एतदित्याह । तदित्यादि । तदिति । सोऽधिकरणमाश्रयो यस्य स तदधिकरणो विवादस्तस्य भावस्तत्वं तस्मादित्येतदुक्तं भवति । यस्माद्विवादं निराकर्तुमिच्छता वादिना साधनमुपन्यस्तं तस्माद्यदधिकरणं विवादस्य तदेव साध्यम् । यतो विरुद्धं

१ इदं पदं ख० पुस्तके न विद्यते । २ साध्यत्व०, ख० साध्यत्वस्य । ३ चेदं, ख० चैतत् । ४ 'तस्य' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

वादमपनेतुं साधनमुपन्यस्तम् । तच्चेन्न साध्यं किमिदानीं जगति नियतं किंचित्साध्यं स्यादिति ।

अनुक्तमपि परार्थानुमाने साध्यमिष्टं तदुदाहरति—

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति । अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थतानेनोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति ।

परार्था इति । चक्षुरादिर्येषां श्रोत्रादीनां ते[2] चक्षुरादय इति धर्मी । परस्मायिमे परार्था इति साध्यम् परार्थ्यम् । संघातत्वादिति हेतुः । व्याप्तिविषयप्रदर्शनं शयनासनाद्यङ्गवदिति । शयनमासनं च ते आदी यस्य तच्छयनासनादि पुरुषोपभोगाङ्गं संघातरूपम् । तद्वदत्र । यत्प्रमाणे यद्यप्यात्मार्थाश्चक्षुरादय इत्यात्मार्थता नोक्ता । अनुक्ताप्यात्मार्थता[3] साध्या । तथा हि । सांख्येनोक्तमस्त्यात्मा । तद्विरुद्धं बौद्धेनोक्तं नास्त्यात्मेति । ततः सांख्येन स्ववादविरुद्धं बौद्धवादं हेतूकृत्य विरुद्धवादनिराकरणाय स्ववादप्रतिष्ठापनाय च साधनमुपन्यस्यम् । अतोऽनुक्ताप्यात्मार्थता साध्या तदधिकरणत्वाद्विवादस्य । शयनासनादिषु[4] हि पुरुषोपभोगाङ्गेष्वात्मार्थत्वेना[5]न्वयो न प्रसिद्धः संघातत्वस्य । परार्थमात्रेण तु सिद्धः । ततः परार्था इत्युक्तम् । चक्षुरादय इत्यत्रादिग्रहणाद्विज्ञानमपि परार्थं साधयितुमिष्टम् । विज्ञानाच्च पर आत्मैव स्यात् । परस्यार्थकारि[6] विज्ञानं सेत्स्यतीति सामर्थ्यादात्मार्थत्वं सिध्यति चक्षुरादीनामिति मत्वा परार्थग्रहणं कृतम् । तेनेष्टसाध्यवचनेन नोक्तमात्रमपि तु प्रतिवादिनो विवादास्पदत्वाद्वादिनः साधयितुमिष्टमुक्तमनुक्तं वा प्रकरणगम्यं साध्यमित्युक्तं भवति—

अनिराकृत इति । एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम् ।

---

१ 'तत्' इति पदं ख० पुस्तके न दृश्यते। २ 'ते' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते। ३ 'अनुक्ता' इति पाठः ख० पुस्तके न विद्यते। ४ शयनासनादिषु, क० शयनादिषु। ५ क० आत्मार्थत्वेन प्रसिद्धः। ६ 'परस्य' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

अनिराकृत[1] इति व्याख्येयम् । एतदित्यनन्तरप्रकान्तं यत्पक्षलक्षणमुक्तं साध्यत्वेनेष्टेत्यादि । एतल्लक्षणेन योगेऽप्यर्थो न पक्ष इति प्रदर्शनार्थं प्रदर्शनाया[2]निराकृतग्रहणं कृतम् । कीदृशोऽर्थो न पक्षः साधयितुमिष्टोऽपीत्याह । यः साधयितुमिष्टोऽर्थः प्रत्यक्षं चानुमानं च प्रतीतिश्च स्ववचनं चैतैर्निराक्रियते विपरीतः साध्यते न[3] स पक्ष इति—

तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा—अश्रावणः शब्द इति ।

तत्रेति । तेषु चतुर्षु प्रत्यक्षादिनिराकृतेषु प्रत्यक्ष[4]निराकृतः कीदृशः । यथेति । यथायं प्रत्यक्षनिराकृतस्तथान्येऽपि द्रष्टव्या इति यथाशब्दार्थः । श्रवणेन ग्राह्यः श्रावणः । न श्रावणोऽश्रावणः श्रोत्रेण च ग्राह्य इति प्रतिज्ञार्थः । श्रोत्राग्राह्यत्वं शब्दस्य प्रत्यक्षसिद्धेन श्रोत्रग्राह्यत्वेन बाध्यते—

अनुमाननिराकृतो यथा—नित्यः शब्द इति ।

अनुमाननिराकृतः । नित्यः शब्द इति शब्दस्य प्रतिज्ञातं नित्यत्वमनित्यत्वेनानुमानसिद्धेन निराक्रियते—

प्रतीतिनिराकृतो यथा—अचन्द्रः शशीति ।

प्रतीत्या निराकृतः । अचन्द्र इति । चन्द्रशब्दवाच्यो न भवति शशीति प्रतिज्ञातार्थः । अयं च प्रतीत्या निराकृतः । प्रतीतोऽर्थ उच्यते । विकल्पविज्ञानविषयः प्रतीतिः । प्रतीतत्वं विकल्पविज्ञानविषयत्वमुच्यते । तेन विकल्पविज्ञानविषयत्वेन[5] प्रतीतिरूपेण शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं सिद्धमेव । तथा हि । यद्विकल्पज्ञानग्राह्यं[6] तच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यम् । तत्सांकेतिकेन शब्देन वक्तुं शक्यम् । अतः प्रतीतिरूपेण विकल्पविज्ञानविषयत्वेन सिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वमचन्द्रत्वस्य बाधकं द्रष्टव्यम् । स्वभावहेतुश्च प्रतीतिः । यस्माद्विकल्पविषयत्वमात्रानुबन्धिनी सांकेतिकशब्दवाच्यता ततः स्वभावहेतुसिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वमवाच्यत्वस्य बाधकं द्रष्टव्यम्—

स्ववचननिराकृतो यथा-नानुमानं प्रमाणम् ।

---

१ अनिराकृतः, क० अनिकृतः । २ प्रदर्शनाय, ख० प्रतिपादनाय । ३ न स पक्षः, ख० स न पक्षः । ४ 'प्रत्यक्ष' इति पाठः ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ५ विकल्पविज्ञानविषयत्वेन, क० विकल्पविज्ञानेन । ६ विकल्पज्ञानग्राह्यं, क० ज्ञानग्राह्यं ।

स्ववचनं प्रतिज्ञार्थस्यात्मीयो वाचकः शब्दस्तेन निराकृतः। प्रतिज्ञार्थो न साध्यः। यथा नानुमानं प्रमाणम्। अत्रानुमानस्य प्रामाण्यनिषेधः प्रतिज्ञार्थः। स नानुमानं प्रमाणमित्यनेन स्ववाचकेन वाक्येन बाध्यते। वाक्यं ह्येतत्प्रयुज्यमानं वक्तुः शाब्दस्य प्रत्ययस्य सदर्थत्वमिष्टं सूचयति। तथाहि। मद्वाक्याद्योऽर्थसंप्रत्ययस्तवोत्पद्यते सोऽसत्यार्थ इति दर्शयन्वाक्यमेव नोच्चारयेद्वक्ता। वचनार्थश्चेदसत्यः परेण ज्ञातव्यो वचनमपार्थकम्। योऽपि हि सर्वं मिथ्या ब्रवीमीति[1] वक्ति सोऽप्यस्य वाक्यस्य सत्यार्थत्वमादर्शयन्नेव वाक्यमुच्चारयति। तद्येतद्[2]वाक्यं सत्यार्थमादर्शितम्। एवं वाक्यान्तराण्यात्मीयान्यसत्यार्था[3]नि दर्शितानि भवन्ति—

एतदेव तु यद्यसत्यार्थमन्यान्यसत्यार्थानि न दर्शितानि भवन्ति।

ततश्च न किंचिदुच्चारणस्य फलमिति नोच्चारयेत्। तस्माद्वाक्यप्रभवं वाक्यार्थालम्बनं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयन्नेव वक्ता वाक्यमुच्चारयति। तथा[4] च सति बाह्यवस्तुनान्तरीयकं शब्दं दर्शयता शब्दजं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयितव्यम्। ततो बाह्यार्थकार्याच्छब्दादुत्पन्नं विज्ञानं सत्यार्थमादर्शयता[5] कार्यलिङ्गजमनुमानं प्रमाणं शाब्दं दर्शितं भवति। तस्मान्नानुमानं प्रमाणमिति ब्रुवता शाब्दस्य[6] प्रत्ययस्यासन्ग्राह्य[7] उक्तोऽसदर्थत्वमेव ह्यप्रामाण्यमुच्यते। नान्यत्। शब्दोच्चारणसामर्थ्याच्चार्थाविनाभावी स्वशब्दो दर्शितः। तथा च सन्नर्थो दर्शितः। ततः कल्पितादर्थकार्याच्छब्दाच्छाब्दप्रत्ययार्थ[8]स्यानुमितं सत्त्वं प्रतिज्ञायमानमसत्त्वं प्रतिबध्नाति। तदेवं स्ववचनानुमितेन सत्त्वेनासत्त्वं वाच्यमानं स्ववचनेन बाधितमुक्तमित्ययमत्रार्थः।

अन्ये त्वाहुः। अभिप्रायकार्याच्छब्दाज्जातं ज्ञानमभिप्रायालम्बनं सदर्थमिच्छतः शब्दप्रयोगः। तेनाप्रामाण्यं प्रतिज्ञातं बाध्यत इति। तदयुक्तम्। यत इह प्रतीतेः स्वभावहेतुत्वं स्ववचनस्य च कार्यहेतुत्वं कल्पि-

---

१ ब्रवीमीति वक्ति, ख० ब्रवीति वक्ति। २ 'तद्येतद्' इति पाठः क० पुस्तक एव विद्यते। अन्यत्र सर्वत्र तु 'यद्येतद्' इति पाठः एव। ३ क० असत्यानि। ४ तथा, क० यथा। ५ आदर्शयता, क० आदर्शयिता। ६ शाब्दस्य, ख० शब्दस्य। ७ ख० असन्तर्थो ग्राह्य, क० असन् ग्राह्य। ८ शाब्दप्रत्ययार्थस्य, क० शब्दप्रत्ययार्थस्य।

तमिष्टम्। न वास्तवम्। अभिप्रायकार्यत्वं च वास्तवमेव शब्दस्य। ततस्तदिह न गृह्यते। किं च यथानुमानमनिच्छन्नप्यव्यभिचारित्वं धूमस्य न प्रत्येति। तथा शब्दस्याप्यभिप्रायाव्यभिचारित्वं न प्रत्येष्यति। बाह्यवस्तुप्रत्यायनाय च शब्दः प्रयुज्यते। तन्न शब्दस्याभिप्रायाविनाभवित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः। [1]अपि च न स्वाभिप्रायनिवेदनाय शब्दे[2] उच्चार्यते। अपि तु बाह्यवस्तुसत्त्वप्रतिपादनाय। तस्माद्बाह्यवस्तुविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः। ततः पूर्वकमेव व्याख्यानमनवद्यम्—

इति चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्ति।

एवं च[3] सत्यनिराकृतग्रहणेनानन्तरोक्ताश्चत्वारः पक्षवदाभासन्त इति पक्षाभासा निरस्ता भवन्ति।

संप्रति पक्षलक्षणपदानि येषां व्यवच्छेदकानि तेषां व्यवच्छेदेन यादृशः पक्षार्थो लभ्यते तं दर्शयितुं व्यवच्छेद्यान्संक्षिप्य दर्शयति।

सिद्धस्यासिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य स्वयं वादिना तदा साधयितुमनिष्टस्योक्तमात्रस्य निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्यस्तेनैव स्वरूपेणाभिमतो वादिन इष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्यं[4] दर्शितं भवति।

एवमित्यनन्तरोक्तक्रमेण[5] सिद्धस्य विपर्ययेण विपरीतत्वेन हेतुना साध्यो द्रष्टव्यः। यस्मादर्थात्सिद्धोऽर्थो विपरीतः स साध्य इत्यर्थः। सिद्धश्च विपरीतोऽसिद्धस्य। तस्मादसिद्धः साध्यः। असिद्धोऽपि न सर्वोऽपि तु साधनत्वेनोक्तस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण स्वयं वादिना साधयितुमनिष्टस्यासिद्धस्य विपर्ययेण। तथोक्तमात्रस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण

---

१ ख० पुस्तके 'अपि च' इत्यस्मादारभ्य 'शब्दप्रयोगः' इत्येतावत्पर्यन्तं द्वे पंक्ती परित्यक्ते। संभवतः लेखकस्य दृष्टिः प्रथमं 'शब्दप्रयेगः' इति पदं दृष्ट्वा भ्रमेण द्वितीयस्य 'शब्दप्रयोगः' इत्यस्योपरि पतिता। २ शब्दः, क० टब्दः। ३ 'च' इति पाठः ख० पुस्तक एव विद्यते। ४ मुद्रितपुस्तकस्य 'अवद्यं' इति पाठोऽस्माकं सम्मतावशुद्धोऽस्ति। ५ अनन्तरोक्तक्रमेण, ख० अनन्तरोक्तेन क्रमेण।

तथा निराकृतस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण साध्यः । यश्चायं पञ्चभिर्व्यवच्छेद्यै रहितोऽर्थोऽसिद्धोऽसाधनम्[1] । वादिनः स्वयं साधयितुमिष्ट उक्तोऽनुक्तो वा[2] प्रमाणैरनिराकृतः[3] साध्यः । स एवासौ स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृत एतैः पदैरुक्त इत्यर्थः । यश्चायं साध्यः स पक्ष उच्यते । इतिशब्द एवमर्थे । एवं पक्षलक्षणमनवद्यमिति । अविद्यमानमवद्यं दोषो यस्य तदनवद्यम् । दर्शितं कथितम् ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परिसमापय्य प्रसङ्गागतं च पक्षलक्षणमभिधाय हेत्वाभासान्वक्तुकामस्तेषां प्रस्तावं रचयति । त्रिरूपेत्यादिना ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम् ।

एतदुक्तं[4] भवति । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं वक्तुकामेन स्फुटं तद्वक्तव्यम् । एवं च तत्स्फुटमुक्तं भवति । यदि तच्च तत्प्रतिरूपकं[5] बोध्यते । हेयज्ञाने हि तद्विविक्तम्[6]उपादेयं सुज्ञातं भवतीति । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति प्रागुक्तम् ।

तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः उक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा । प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरेकस्य रूपस्य धर्मिसंबन्धस्यासिद्धौ संदेहे चासिद्धो हेत्वाभासः ।

तत्रेति । तस्मिन्सति त्रिरूपलिङ्गाख्याने परार्थानुमाने सतीत्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां मध्य एकस्याप्यनुक्तौ । अपिशब्दाद्द्वयोरपि । साधनस्याभासः सदृशं साधनस्य न साधनमित्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां न्यूनता नाम साधनदोषः । न केवलमनुक्तावुक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा कस्येत्याह । प्रतिपाद्यस्य प्रतिवादिनः प्रतिपादकस्य च वादिनो हेत्वाभासः । अथ कस्य[7] रूपस्यासिद्धौ संदेहे वा[8] किंसंज्ञको हेत्वाभास इत्याह । एकस्य रूपस्येति । धर्मिणा सह सम्बन्धः धर्मिसंबन्धः । धर्मिणि सत्त्वं हेतोः ।

---

१ असाधनं, क० असाधनं २ । २ वा, क० वा ४ । ३ निराकृतः, निराकृतः ५ । ४ एतद् , तद् । ५ प्रतिरूपकं, ख० प्रतिरूपम् । ६ क० विवक्तम् । ७ कस्य, ख० कस्यैकस्य । ८ वा किं०, क० वाक्यं ।

तस्यासिद्धौ संदेहे वाऽसिद्धसंज्ञको हेत्वाभासः। असिद्धत्वादेव च धर्मिण्यप्रतिपत्तिहेतुर्न साध्यस्य न विरुद्धस्य न संशयस्य हेतुरपि त्वप्रतिपत्तिहेतुर्न कस्यचिदतः प्रतिपत्तिरिति कृत्वा। अयं चार्थोऽसिद्धसंज्ञाकरणादेव प्रतिपत्तव्यः।

उदाहरणमाह—

यथा—अनित्यः शब्द इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम्।

यथेत्यादि। अनित्यः[1] शब्द इत्यनित्यत्वविशिष्टे शब्दे साध्ये चाक्षुषत्वं चक्षुर्ग्राह्यत्वं शब्दे द्वयोरपि[2] वादिप्रतिवादिनोरसिद्धम्।

चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्तस्य च तरुष्वसंभवात्।

चेतनास्तरव इति तरूणां चैतन्ये साध्ये सर्वा त्वक्सर्वत्वक्। तस्या अपहरणे सति मरणं दिगम्बरैरुपन्यस्तम्। प्रतिवादिनो बौद्धस्यासिद्धम्। कस्मादसिद्धमित्याह। विज्ञानं चेन्द्रियं चायुश्च[3]। रूपादिविज्ञानोत्पत्या यदनुमितं कायान्तर्भूतं[4] चक्षुर्गोलकादिस्थितरूपं तदिन्द्रियम्। आयुरिति लोके प्राणा उच्यन्ते[5]। न चागमसिद्धमिह युज्यते वक्तुम्। अतः प्रमाणस्वभावमायुरिह[6]। तेषां निरोधो निवृत्तिः। स लक्षणं तत्त्वं यस्य तत्तथोक्तम्। तथाभूतस्य मरणस्यानेन बौद्धेन प्रतिज्ञातत्वात्। यदि नामैवं तथापि कथमसिद्धमित्याह। तस्य च विज्ञानादिनिरोधात्मकस्य तरुष्वसंभवात्[7]। सत्तापूर्वको निरोधः। ततश्च यो विज्ञाननिरोधं तरुष्विच्छेत्स कथं विज्ञानं नेच्छेत्। तस्माद्विज्ञानानिष्टेर्निरोधोऽपि नेष्टस्तरुषु। ननु च शोषोऽपि मरणमुच्यते। स च तरुषु सिद्धः। सत्यम्। केवलं विज्ञानसत्तया[8] व्याप्तं यन्मरणं तदिह हेतुर्विज्ञाननिरोधश्च। तत्स-

---

१ अनित्यः, ख० नित्यः। २ ख० द्वयोर्द्वयोरपि। ३ चायुश्च, ख० चायुश्च तत्रविज्ञान (अशुद्धः) चक्षुरादि जयित (अशुद्धः)। ४ ख० कार्यान्तभूतं। ५ ख० उच्यते। ६ आयुरिह। तेषां, ख० आयुः। इह तेषां। ७ असंभवात्, ख० अभावात्। ८ 'विज्ञानसत्तया'। क० मुद्रितपुस्तके च 'विज्ञानसत्ताया'।

[1]त्तया व्याप्तो न शोषमात्रम् । [2]ततो यन्मरणहेतुस्तत्तरुष्वसिद्धम् । यत्तु सिद्धं शोषात्मकं तदहेतुः । दिगम्बरस्तु साध्येन व्याप्तमव्याप्तं वा मरणमविविच्य मरणमात्रं हेतुमाह । तदस्य वादिनो हेतु[3]भूतं मरणं न ज्ञातम् । अज्ञानात्सिद्धं शोषरूपम् । शोषरूपस्य मरणस्य तरुषु दर्शनात् । प्रतिवादिनस्तु ज्ञातमतोऽसिद्धम् । यदा तु वादिनोऽपि ज्ञातं तदा वादिनोप्यसिद्धं स्यादिति न्यायः ।

अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम् ।

अचेतनाः सुखादय इति । सुखमादिर्येषां दुःखादीनां ते सुखादयः । तेषामचैतन्ये साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा लिङ्गमुपन्यस्तम् । य उत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा ते न चेतना यथा रूपादयः । तथा चोत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा सुखादयस्तस्मादचेतनाः । चैतन्यं तु पुरुषस्य स्वं रूपम् । अत्र चोत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा पर्यायेण हेतुर्न युगपत् । तच्च द्वयमपि सांख्यस्य वादिनो न सिद्धम् । परार्थो [4]हि हेतूपन्यासः । तेन यः परस्य सिद्धः स हेतुर्वक्तव्यः । परस्य चासत उत्पाद उत्पत्तिमत्त्वम् । सतश्च निरन्वयो विनाशोऽनित्यत्वं सिद्धम् । तादृशं च द्वयमपि सांख्यस्यासिद्धम् । इहाप्यनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वसाधनाज्ञानाद्वादिनोऽसिद्धम् । यदि त्वनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वयोः [5]प्रमाणं वादिनो ज्ञातं स्यात्[6] । वादिनोपि सिद्धं स्यात् । ततः प्रमाणापरिज्ञानादिदं वादिनोऽसिद्धम् ।

संदिग्धासिद्धं दर्शयितुमाह—

तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा संदेहेऽसिद्धः ।

स्वयमिति । हेतोरात्मनः संदेहेऽसिद्धः । तदाश्रयणस्य चेति । तस्य हेतोराश्रयणमाश्रीयतेऽस्मिन्हेतुरित्याश्रयणं हेतोर्व्यतिरिक्त आश्रयभूतः साध्यधर्मी कथ्यते । तत्र हि हेतुर्वर्तमानो गमकत्वेनाश्रीयते । तस्याश्रयणस्य संदेहे संदिग्धः ।

---

१ सत्तया, क० मुद्रितपुस्तके च 'सत्ताया'। २ ततः क० तत्र। ३ हेतुभूतं, क० हेतुज्ञात्तं (अशुद्धः)। ४ परार्थो हि, ख० परार्थादि। ५ प्रमाणं, ख० प्रमाण्यं। ६ स्यात्, ख० स्यात्तदा।

स्वात्मना संदिह्यमानमुदाहर्तुमाह—

यथा बाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः ।

यथेति । बाष्प आदिर्यस्य स बाष्पादिस्तद्भावेन बाष्पादित्वेन संदिह्यमानो भूतसंघात इति । भूतानां पृथिव्यादीनां संघातः समूहः । अग्निसिद्धावग्निसिद्ध्यर्थमुपादीयमानोऽसिद्धः । एतदुक्तं भवति । यदा धूमोऽपि बाष्पादित्वेन संदिग्धो भवति । तदासिद्धो गम[2]करूपानिश्चयाद्धूमतया निश्चितो वह्निजन्यत्वाद्गमकः । यदा तु संदिग्धस्तदा न गमक इति । असिद्धताख्यो दोषः ।

आश्रयणासिद्धमुदाहरति—

यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति ।

यथेति । इह निकुञ्ज इति धर्मी । पर्वतोपरिभागेन तिर्यङ्निर्गतेन प्रच्छादितो भूभागो निकुञ्जः । मयूर इति साध्यम् । केकायितादिति हेतुः । केकायितं मयूरध्वनिः ।

कथमाश्रयणासिद्ध इत्याह—

तदापातदेशविभ्रमे ।

तदापात[3] इति । तस्य केकायितस्यापात आगमनं तस्य देशः स उच्यते । यस्माद्देशादागच्छति केकायितम् । तस्य विभ्रमे व्यामोहे सत्ययमाश्रयणासिद्धः । निरन्तरेषु बहुषु निकुञ्जेषु सत्सु यदा केकायितापा[4]तविभ्रमः किमस्मान्निकुञ्जात्केकायितमागतमाहोस्विदस्मा[5]दिति तदाश्रयणासिद्ध इति ।

धर्मिणो सिद्धावप्यसिद्धत्वमुदाहरति—

धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धो यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभमानगुणत्वम् ।

यथेति । सर्वस्मिन् गतः स्थितः सर्वगतो व्यापीति यावत् । व्यापित्व

---

१ क० बाष्पादिह्यमाना । २ क० गक । ३ क० तदवात । ४ केकायितापातविभ्रमः, ख० केकायितापातनिकुंजे विभ्रमः । ५ अस्मात्, ख० अन्यस्मात् ।

आत्मनः साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं लिङ्गम् । सर्वत्र देश उपलभ्यमानाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयो गुणा यस्यात्मनस्तस्य भावस्तत्त्वम् । न गुणा गुणिनमन्तरेण वर्तन्ते । गुणानां गुणिनि समवायात् । निष्क्रियश्चात्मा । ततश्च यदि व्यापी न भवेत्कथं दक्षिणापथ उपलब्धाः सुखादयो मध्यदेश उपलभ्येरन् । तस्मात्सर्वगत आत्मा । तदिह बौद्धस्यात्मैव न सिद्धः किमुत सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं सिध्येत् । तस्येत्यसिद्धौ हेत्वाभासः । पूर्वमाश्रयणसंदेहेन धर्मिणि संदेह उक्तः । संप्रति त्वसिद्धो धर्म्युक्त इत्यनयोर्विशेषस्तदेवमेकस्य रूपस्य धर्मिबद्धस्यासिद्धावसिद्धो हेत्वाभासः ।

तथैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्या[1]सिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः ।

तथा परस्यैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वाख्यस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः । एकोऽन्त एकान्तो निश्चयः । स प्रयोजनमस्येत्यैकान्तिकः । नैकान्तिकोऽनैकान्तिकः । यस्मान्न साध्यस्य न विपर्ययस्य निश्चयोऽपि तु तद्विपरीतः संशयः । साध्येतरयोः संशयहेतुरनैकान्तिक उक्तः ।

तमुदाहरति—

यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः । सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानस्तथास्यैव रूपस्य संदेहेऽप्यनैकान्तिक एव ।

यथेत्यादिना । अनित्यत्वमादिर्यस्य सोऽनित्यत्वादिको धर्मः । आदिशब्दादप्रयत्नानन्तरीयकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नित्यत्वं[2] च परिगृह्यते प्रमेयत्वमादिर्यस्य स प्रमेयत्वादिकः । आदिशब्दादनित्यत्वं पुनरनित्यत्वममूर्तत्वं च गृह्यते[3] । शब्दस्य धर्मिणोऽनित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मोऽनैकान्तिकः । चतुर्णामपि विपक्षेऽसत्त्वमसिद्धम् । तथाहि । अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादाकाशवद्घटवदिति प्रमेयत्वं सपक्षविपक्षव्यापि ।

---

१ मुद्रितपुस्तकस्य 'सत्त्वस्य' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते । २ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ३ गृह्यते, ख० गृह्यन्ते ।

अप्रयत्नानन्तरीयकः शब्दोऽनित्यत्वाद्विद्युदाकाशवद्[1] घटवच्चेत्यनित्यत्वं सपक्षैकदेशवृत्ति विद्युदादावस्ति नाकाशादौ[2]। विपक्षव्यापि प्रयत्नानन्तरीयके सर्वत्र भावात्। अनित्यत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो घटवद्विद्युदाकाशवच्चेत्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशशब्दवृत्ति विद्युदादावस्ति नाकाशादौ। सपक्षव्यापि सर्वत्र प्रयत्नानन्तरीयके भावात्। नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वादाकाशपरमाणुवत्कर्मघटवच्चेत्यमूर्तत्वमुभयैकदेशवृत्ति। उभयोरेकदेश आकाशे कर्मणि च वर्तते। परमाणौ तु सपक्षकदेशे घटादौ च विपक्षैकदेशे न वर्तते। मूर्तत्वाद्घटपरमाणुप्रभृतीनाम्। नित्यास्तु परमाणवो वैशेषिकैरभ्युपगम्यन्ते। ततः सपक्षान्तर्गताः। अस्य चतुर्विधस्य पक्षधर्मस्यासत्त्वमसिद्धं विपक्षे। ततोऽनैकान्तिकता। यथा चास्य रूपस्यासिद्धावनैकान्तिकस्तथास्यैव विपक्षेऽसत्त्वाख्यस्य रूपस्य संदेहेऽनैकान्तिकः।

तमुदाहरति—

यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमान्वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः। सर्वत्रैकदेशे वा सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते इति।

यथेति। असर्वज्ञ इति। असर्वज्ञत्वं साध्यम्। कश्चिद्विवक्षित इति वक्तुरभिप्रेतः पुरुषो धर्मी। राग आदिर्यस्य द्वेषादेः स रागादिः स यस्यास्ति स रागादिमानिति द्वितीयं साध्यम्। वाग्रहणं रागादिमत्त्वस्य पृथक्साध्यत्वख्यापनार्थम्। ततोऽसर्वज्ञत्वे रागादिमत्त्वे वा साध्ये प्रकृते वक्तृत्वं वचनशक्तिस्तदादिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः स वक्तृत्वादिको धर्मोऽनैकान्तिकः। संदिग्धा[3] विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य स तथोक्तः। असर्वज्ञत्वे साध्ये सर्वज्ञत्वं विपक्षः। तत्र वचनादेः सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम्। अतो न ज्ञायते वक्ता सर्वज्ञ उतासर्वज्ञ इत्यनैकान्तिकं वक्तृत्वम्।

ननु च[4] सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते तत्कथं वचनं सर्वज्ञे संदिग्धम्। अत एव सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यत इति।

---

१ क० विद्युदाकाशद्घटवत्। २ लेखकस्य प्रमादेन ख० पुस्तके 'नाकाशादौ' द्वयमध्यस्थः पाठः परित्यक्तः। ३ संदिग्धा, ख० संदिग्ध०। ४ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

एवं प्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्मविषयत्वेन संदेहे हेतुत्वात् ।

एवंप्रकारस्यैवंजातीयस्यानुपलम्भस्य[1] संदेहहेतुत्वात् । कुत इत्याह । अदृश्यात्मा विषयो यस्य तस्य भावोऽदृश्यात्मविषयत्वं तेन संदेहहेतुत्वम् ।

असर्वज्ञविपर्ययाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा । वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च ।

यतोऽदृश्यविषयोऽनुपलम्भः संशयहेतुर्न[2] निश्चयहेतुस्ततोऽसर्वज्ञविपक्षात्सर्वज्ञाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा । नानुपलम्भात् । सर्वज्ञे[3] वक्तृत्वमसद्भूतोऽपि तु सर्वज्ञत्वेन सह वक्तृत्वस्य विरोधात् । एतन्न सर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोर्विरोधो नास्ति । विरोधाभावाच्च कारणाद्व्यतिरेको न सिध्यतीति सम्बन्धः ।

व्याप्तिमन्तं व्यतिरेकं दर्शयति ।

यः सर्वज्ञः स वक्ता न भवतीत्यदर्शनेऽपि व्यतिरेको न सिध्यति । संन्देहात्[4] ।

यः सर्वज्ञ इति । साध्याभावरूपं सर्वज्ञत्वमनूद्य न स[5] वक्ता भवतीति साधनस्य वक्तृत्वस्याभावो विधीयते । तेन साध्याभावः साधनाभावे नियतत्वात्साधनाभावेन[6] व्याप्त उक्त इति व्याप्तिमानीदृशो व्यतिरेको विरोधे सति वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोः सिध्येत् । न चास्ति विरोधः । तस्मान्न सिध्यति[7] । कुत इत्याह । संदेहात् । यतो विरोधाभावस्तस्मात्संदेहः । संदेहाद्व्यतिरेकासिद्धिः ।

कथं विरोधाभावः ।

द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः ।

---

१ एवंजातीयस्य, ख० एवंजातीयकस्य। २ संशयहेतुः, ख० संदेहेतुः (अशुद्धः)। ३ सर्वज्ञे, ख० संदिग्धे। ४ मुद्रितपुस्तकस्य संपादकेन 'संदेहात्' इति हेतुवाक्यं द्विविधमित्यग्रिमवाक्ये निबद्धम्। ५ न स वक्ता, ख० स वक्ता न। ६ साधनाभावेन, ख० साधर्म्यभावेन । ७ सिध्यति, ख० सिध्यतीति।

हीति[1]। यस्माद् द्विविध एव विरोधो नान्यः। तस्मान्न वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधः।

कः पुनरसौ द्विविधो विरोध इत्याह।

अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावः।

अविकलकारणस्येति। अविकलानि समग्राणि कारणानि यस्य स तथोक्तः। यस्य कारणवैकल्यादभावो न तस्य केनचिदपि विरोधगतिः। तदर्थमविकलकारणग्रहणम्।

ननु च यस्यापि कारणसाकल्यं तस्यापि निवृत्तिरशक्या केनचिदपि कर्तुं तत्कुतो विरोधगतिः। एवं तर्हि।

अभावाद्विरोधगतिः।

अविकलकारणस्यापि यत्कृतात्कारणवैकल्यादभावः। तेन विरोधगतिः। तथा च सति यो यस्य विरुद्धः स तस्य किंचित्कर एव। तथा हि। शीतस्पर्शस्य जनको भूत्वा शीतस्पर्शान्तरजननशक्तिं प्रतिबध्नञ्शीतस्पर्शस्य निवर्तको विरुद्धः। तस्माद्धेतुवैकल्यकारी विरुद्धो जनक एव। निवर्त्यस्य सहानवस्थानविरोधश्चायम्। ततो विरुद्धयोरेकस्मिन्नपि क्षणे सहावस्थानं परिहर्तव्यम्। दूरस्थयोर्विरोधाभावाच्च निकटस्थयोरेव निवर्त्यनिवर्तकभावः। तस्माद्यो यस्य निवर्तकः स तं यदि परं तृतीये क्षणे निवर्तयति। प्रथमे क्षणे सन्निपतन्नसमर्थावस्थानयोग्यो भवति। द्वितीये विरुद्धमसमर्थं करोति। तृतीये त्वसमर्थे निवृत्ते तद्देशमाक्रामति। तत्रालोको गतिधर्मा क्रमेण जलतरङ्गन्यायेन देशमाक्राम[2]न्यदान्धकारे निरन्तरमालोकक्षणं जनयति, तदालोकसमीपवर्तिनमन्धकारमसमर्थं जनयति। ततोऽसामर्थ्यं तस्य यस्य समीपवर्त्यालोकः। असा[3]मर्थ्ये निवृत्ते तादृशो जायत आलोक इत्येवं क्रमेणालोकेनान्धकारोऽपनेयः। तथोष्णस्पर्शेन शीतस्पर्शो निवर्तनीयः। यदा त्वालोकस्तत्रैवान्धकारे देशे जन्यते तदा यतः क्षणादन्धकारदेशस्यालोकस्य जनकक्षण उत्पद्यते तत एवान्धकारोऽन्धकारान्तरज[4]ननासमर्थ उत्पन्नः।

१ हीति यस्मात्, ख० हिर्यस्मात्। २ आक्रामन्, ख० आक्रामयन्। ३ असामर्थ्ये, क० असमर्थ्ये, ख० असमर्थे। ४ अन्धकारान्तरजननासमर्थः, क० अन्धकारान्तरासमर्थः, ख० अन्धकारान्तराजनना समर्थः।

ततोऽसमर्थावस्थाजनकत्वमेव निवर्तकत्वम्। अतश्च यस्मिन् क्षणे जनकस्ततस्तृतीये क्षणे निवृत्तो विरुद्धो यदि शीघ्रम् निवर्तते। जन्यजनकभावाच्च संतानयोर्विरोधो न क्षणयोः। यद्यपि च न संतानो नाम वस्तु तथापि संतानिनो वस्तुभूताः। ततोऽयं परमार्थः न क्षणयोर्विरोधः। अपि तु बहूनां क्षणानाम्। यतः सत्सु दहनक्षणेषु प्रवृत्ता अपि शीतक्षणा निवृत्तिधर्माणो भवन्तीति। संतानयोर्निवर्त्यनिवर्तकत्वनिमित्ते च विरोधे स्थिते सर्वेषां परमाणूनां सत्यप्येकदेशावस्थानाभावेन विरोध इतरेतरसंतानानिवर्तनात्तेषां गतिधर्मा चालोको यां दिशमाक्रामति तद्दिग्वर्तिनो विरोधि संतानान्निवर्तयति। ततोऽपवरकैकदेशस्था प्रदीपप्रभान्धकारनिकटवर्तिन्यपि नान्धकारं निवर्तयति। अन्धकाराक्रान्तायां दिश्यालोकक्षणान्तरजननासामर्थ्यात्। कारणासामर्थ्यहेतुकृतं संताननिष्ठमेव विरोधं दर्शयता भवतेति कृतम्। भवतः प्रबन्धेन वर्तमानस्य शीतस्पर्शसंतानस्याभावोऽन्यस्योष्णस्पर्शसन्तानस्य भावे सतीति।

ये त्वाहुर्न विरोधो वास्तव इति त इदं वक्तव्याः। यथा न निष्पन्ने कार्ये कश्चिज्जन्यजनकभावो नाम दृष्टोऽस्ति। कारणपूर्विका तु कार्यप्रवृत्तिरतो वास्तव एव। तद्वन्न निवृत्ते वस्तुनि कश्चिदिष्टो नाम विरोधोऽस्ति। दहननिमित्तं तु शीतस्पर्शस्य क्षणान्तरासामर्थ्यमतो विरोधोऽपि वास्तव एव।

उदाहरणमाह।

शीतोष्णस्पर्शवत्।

शीतश्चोष्णश्च तावेव स्पर्शौ तयोरिव। शीतोष्णस्पर्शयोर्हि पूर्ववद्विरोधो योजनीयः।

द्वितीयमपि विरोधं दर्शयितुमाह।

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत्।

परस्परपरिहारः परित्यागस्तेन स्थितं लक्षणं रूपं ययोस्तद्भावः पर-

१ असमर्थावस्था०, ख० असामर्थ्यावस्था०। २ संतानयोः, क० संतनयोः। ३ तद्दिग्वर्तिनः, क० तद्विवर्त्तिनः। ४ अन्धकाराक्रान्तायां, क० अन्धकारायाक्रान्तायां। ५ हेतुकृतं, ख० हेतुत्वकृतं। ६ भवता, क० ख० भवतः।

स्परपरिहारस्थितलक्षणता तथा। इह यस्मिन्परिच्छिद्यमाने यद्व्यवच्छिद्यते तत्परिच्छिद्यमानमवच्छिद्यमानपरिहारेण स्थितरूपं द्रष्टव्यम्। नीले च परिच्छिद्यमाने ताद्रूप्यप्रच्युतिरवच्छिद्यते तदव्यवच्छेदे नीलापरिच्छेदप्रसङ्गात्। तस्माद्वस्तुनो भावाभावौ परस्परपरिहारेण स्थितरूपौ। नीलात्तु यदन्यद्रूपं तन्नीलाभावाव्यभिचारि। नीलस्य दृश्यस्य पीतादावुपलभ्यमानेऽनुपलम्भादभावनिश्चयात्। यथा च नीलमभावं परिहरति तद्वदभावाव्यभिचारि पीतादिकमपि। तथा च भावाभावयोः साक्षाद्विरोधौ[1] वस्तुनोस्त्वन्योन्याभावाव्यभिचारित्वाद्विरोधः। कस्य[2] चान्यत्राभावावसायो यो नियताकारोऽर्थस्तस्य। न त्वनियताकारोऽर्थः क्षणिकत्वादिवत्। क्षणिकत्वं हि सर्वेषां नीलादीनां स्वरूपात्मकम्। अतो न नियताकारम्। यतः क्षणिकत्वपरिहारेण न किंचिद्दृश्यते। यद्येवमभावोऽपि न नियताकारः। कथं न। नियताकारो नाम यावता वस्तुरूपविविक्ताकारः कल्पितोऽभावः। ततो दृष्टं कल्पितं वा नियतं रूपमन्यत्रासदवसीयते नानियतम्। एवं नित्यत्वे[3] पिशाचादिरपि नियताकारः कल्पितो द्रष्टव्यः। एकात्मकत्वविरोधश्चायम्। ययोर्हि परस्पर[4]परिहारेणावस्थानं तयोरेकत्वाभावः। अत एव लाक्षणिकोऽयं विरोध उच्यते। लक्षणं रूपं वस्तूनां प्रयोजनमस्येति कृत्वा। विरोधेन ह्यनेन वस्तुतत्त्वं[5] विभक्तं व्यवस्थाप्यते। अतएव दृश्यमाने रूपे यन्निषिध्यते तद्दृश्यमेवाभ्युपगम्य निषिध्यते। तथा हि। अभावोऽपि पिशाचोऽपि यदा पीते निषेद्धुमिष्यते तदा दृश्यात्मतया निषेध्य इति दृश्यत्वमभ्युपगम्य दृश्यानुपलब्धेरेव निषेधः। तथा च सति रूपे परिच्छिद्यमान एकस्मिंस्तदभावो दृश्यो व्यवच्छिद्यते। ततः स्वप्रच्युतिवत्प्रच्युतिमन्तोऽपि व्यवच्छिन्ना इति ये परस्परपरिहारस्थितरूपाः सर्वे तेऽनेन निषिद्धैकत्वा इति सत्यपि चास्मिन्विरोधे सहावस्थानं स्यादपि। ततो भिन्नव्यापारौ विरोधौ। एकेन विरोधेन शीतोष्णस्पर्शयोरेकत्वं धार्यते। अन्येन सहावस्थानं भिन्नप्रवृ[6]त्तिविषयौ च। सकले वस्तुन्य-

---

१ विरोधौ, ख० विरोधो। २ कः कस्य। ३ नित्यत्वे, ख० नित्यत्व। ४ परस्परपरिहारेण, ख० परस्परेण। ५ वस्तुतत्त्वं, क० स्तुतत्त्वं। ६ 'प्रवृत्ति' इति पाठः ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

वस्तुनि च परस्परपरिहारविरोधः। वस्तुन्येव कतिपये सहानवस्थानं[1]विरोधः। तस्माद्भिन्नव्यापारौ भिन्नविषयौ च। ततो नानयोरन्योन्यान्तर्भाव इति।

स च द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न संभवति।

स चायं द्विविधोऽपि[2] विरोधो वक्तृत्वं च सर्वज्ञत्वं च तयोर्न संभवति न ह्यविकलकारणस्य सर्वज्ञत्वस्य वक्तृत्वभावादभावगतिः। सर्वज्ञत्वं ह्यदृश्यम्। अदृष्टस्य चाभावो नावसीयते। ततो नानेन विरोधगतिर्भवति। न च वक्तृत्वपरिहारेण सर्वज्ञत्वमवस्थितम्। काष्ठादयोऽपि वक्तृत्वपरिहृतास्तेषामपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। नापि सर्वज्ञत्वपरिहारेण वक्तृत्वम्। काष्ठादीनामपि वक्तृत्वप्रसङ्गात्। तत एवाविरोधाद्वक्तृत्वविधानेन सर्वज्ञत्वनिषेधः।

स्यादेतत्। यदि नास्त्येव विरोधो घटपटयोरिव। स्यादपि तयोः सहावस्थितिदर्शनम्। अदर्शनात्तु विरोधगतिः। विरोधाच्चा[3]भावगतिरित्याशङ्क्याह—

न चाविरुद्धविधेरनुपलब्धावप्यभावगतिः। रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावासिद्धेः।

न चाविरुद्धविधेरिति। अनुपलब्धावपि नायं विरुद्धविधिः। यद्यपि च सहावस्थानानुपलम्भस्तथापि न तयोर्विरोधो यस्मान्न सहानुपलम्भमात्राद्विरोधोऽपि तु द्वयोरुपलभ्यमानयोर्निर्वर्त्य[4]निवर्तकभावावसायात्। तस्मादनुपलब्धावपि न वक्तृत्वविरोधिविरुद्धविधिः। अतोऽस्मान्नान्यस्याभावगतिस्तथा न वक्तृत्वाद्रागादिमत्त्वगतिः। यतो यदि वचनादि रागादीनां कार्यं स्याद्वचनादे रागादिगतिः स्याद्रागादिनिवृत्तौ वचना[5]दिनिवृत्तिः स्यात्। न च कार्यम्। कुतः। रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावस्यासिद्धेः। कारणान्न कार्यमतोऽस्मान्न गतिः।

माभूद्रागादिकार्यं वचनम्। सहचारि तु भवति। ततो रागादौ

१ सहानवस्थान०, ख० सहावस्थानं। २ द्विविधः, क० द्विरोधः। ३ 'च' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते। ४ निवर्त्य०, क० निर्वर्त्य०। ५ वचनादि, ख० वचन०।

सहचारिणि निवृत्ते निवर्तते वचनमित्याशङ्क्याह—

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिरिति संदिग्धव्यतिरेकोऽनैकान्तिको वचनादिः ।

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ सहचारित्वदर्शनमात्रेण नान्यस्य वचनादेर्निवृत्तिः । अतो वक्तृत्वं भवेद्रागादिविरहश्चेति । इति शब्दस्तस्मादर्थे । तस्मादसर्वज्ञत्वविपर्ययाद्विपक्षात्सर्वज्ञत्वाद्रागादिमत्त्वविपर्ययादरागादिमत्त्वात्संदिग्धो व्यतिरेको वचनादेः । अतोऽनैकान्तिको वचनादिः ।

एवमेकैकरूपादिसिद्धिसंदेहे हेतुदोषानाख्याय द्वयोर्द्वयोरूपयोरसिद्धिसंदेहे हेतुदोषान्वक्तुकाम आह—

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः ।

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ सत्यां विरुद्धः ।

त्रीणि च रूपाणि सन्ति ततो विशेषज्ञापनार्थमाह—

कयोर्द्वयोः सपक्षे सत्त्वस्यासपक्षे चासत्त्वस्य यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः ।

कयोर्द्वयोरिति । विशिष्टे रूपे दर्शयति । सपक्षे सत्त्वस्यासपक्षे चासत्त्वस्य विपर्ययसिद्धाविति सम्बन्धः । कृतकत्वमिति स्वभावहेतुः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वमिति कार्यहेतोः । प्रयत्नानन्तरीयकशब्देन हि प्रयत्नानन्तरं जन्म ज्ञानं च प्रयत्नानन्तरीयकमुच्यते । जन्म जायमानस्य स्वभावः । ज्ञानं ज्ञेयस्य कार्यम् । तदिह प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं गृह्यते । तेन कार्यहेतुः । एतौ हेतू नित्यत्वे साध्ये विरुद्धौ हेत्वाभासौ ।

कस्मात्पुनरेतौ विरुद्धावित्याह—

अनयोः सपक्षेऽसत्त्वमसपक्षे च सत्त्वमिति विपर्ययसिद्धिः ।

---

१ 'तस्मादसर्वज्ञत्वविपर्ययाद्विपक्षात्' आदि, ख० 'तस्मादसर्वज्ञत्वावीतरागत्वविपर्ययात् (अशुद्धः) तिपक्षात्सर्वज्ञत्वावीतरागादिमत्त्वात्संदिग्धः' आदि ।

अनयोरिति । सपक्षे नित्ये कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोरसत्त्वमेव निश्चितम् । अनित्ये विपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमिति विपर्ययसिद्धिः ।

कस्मात्पुनर्विपर्ययसिद्धावप्येतौ विरुद्धावित्याह—

एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ ।

एतौ च साध्यस्य नित्यत्वस्य विपर्ययमनित्यत्वं साधयतः साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ ।

यदि साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धावेतावुक्तं न परार्थानुमाने साध्यं न त्वनुक्तम् । इष्टं चानुक्तमतोऽन्य इष्टविघातकृदाभ्यामिति दर्शयन्नाह—

तत्र च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद्विरुद्धः ।

ननु च तृतीयोऽपि विरुद्ध उक्तः । उक्तविपर्ययसाधनौ द्वौ तृतीयोऽयमिष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विघातं करोति विपर्ययसाधनादिति । इष्टविघातकृत् ।

तमुदाहरति—

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदिति ।

यथेति । चक्षुरादय इति धर्मी । परोऽर्थः प्रयोजनं संस्कार्य उपकर्तव्यो येषां ते परार्था इति साध्यम् । संघातत्वात्संचितरूपत्वादिति हेतुः । चाक्षुरादयो हि परमाणुसंचितिरूपाः । ततः संघातरूपा उच्यन्ते । शयनमासनं चादिर्यस्य तच्छयनासनादि । तदेवाङ्गं पुरुषोपभोगाङ्गत्वात् । अयं व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । अत्र हि पारार्थ्येन संहतत्वं व्याप्तम् । यतः शयनासनादयः संघातरूपाः पुरुषस्य भोगिनो भवन्त्युपकारका इति परार्था उच्यन्ते ।

कथमयमिष्टविघातकृदित्याह—

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धः ।

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनादिति । असंहते विषये पारार्थ्यमसंहतपारार्थ्यम् । तस्य सांख्यस्य वादिन इष्टमसंहतपारार्थ्यं तदिष्टसंहतपारार्थ्यं तस्य विपर्ययः । संहतपारार्थ्यं नाम तस्य साधनाद्विरुद्धः । आत्मास्तीति

ब्रुवाणः सांख्यः। कुत एतदिति पर्यनुयुक्तो बौद्धेनेदमात्मनः सिद्धये प्रमाणमाह। तस्मादसंहतस्यात्मन उपकारकत्वं साध्यं चक्षुरादीनाम्। अयं तु हेतुविपर्ययव्याप्तः। यस्माद्यो यस्योपकारकः स तस्य जनकः। जन्यमानश्च युगपत्क्रमेण वा भवति संहतः। तस्मात्परार्थाश्चक्षुरादय इति संहतपरार्था इति सिद्धम्।

स इह कस्मान्नोक्तः।

अयं च विरुद्ध आचार्यदिग्नागेनोक्तः। स कस्माद्वार्तिककारेण सता त्वया नोक्तः।

इतर आह—

अनयोरेवान्तर्भावात्।

अनयोरेव साध्यविपर्ययसाधनयोरन्तर्भावात्।

ननु चोक्तविपर्ययं न साधयति तत्कथमुक्तविपर्ययसाधनयोरेवान्तर्भाव इत्याह—

न ह्ययमाभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते।

नह्ययमिति। हीति यस्मादर्थे। यस्मादयमिष्टविघातकृदाभ्यां हेतुभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन न भिद्यते। यथा तौ साध्यविपर्ययसाधनौ तथायमप्युक्तविपर्ययं तु साधयतु वा मा वा किमुक्तविपर्ययसाधनेन। तस्मादनयोरेवान्तर्भावः।

ननु चोक्तमेव साध्ये तत्कथं साध्यविपर्ययसाधनत्वेनाभेद इत्याह—

न हीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेषः इति द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च संदेहेऽनैकान्तिकः।

नहीति। यस्मादिष्टोक्तयोः परस्परस्य[1] साध्यत्वेन न कश्चिद्विशेषो भेद इति। तस्मादनयोरेवान्तर्भावः इत्युपसंहारः। प्रतिवादिनो हि यज्जिज्ञासितं तत्प्रकरणापन्नम्। यच्च प्रकरणापन्नं तत्साधनेच्छया विषयीकृतम्। साध्यमिष्टमुक्तमनुक्तं वा।

---

१. परस्परस्य, क० परस्परस्मात्।

ननूक्तमात्रमेव साध्यं तेनाविशेष इति। द्वयो रूपयोरसिद्धौ विरुद्ध उक्तः। अनयोर्द्वयोर्मध्य एकस्यासिद्धावपरस्य च संदेहेऽनैकान्तिकः। कीदृशोऽसावित्याह—

यथा वीतरागः कश्चित्सर्वज्ञो वा वक्तृत्वादिति। व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः। संदिग्धोऽन्वयः।

यथेति। विगतो रागो यस्य स वीतराग इत्येकं साध्यम्। सर्वज्ञो वेति द्वितीयम्। वक्तृत्वादिति हेतुः। व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः इति स्वात्मन्येव सरागे चासर्वज्ञे च विपक्षे वक्तृत्वं दृष्टम्। अतोऽसिद्धो व्यतिरेकः।

संदिग्धोऽन्वयः कुत इत्याह—

सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धमनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः।

सपक्षभूतयोः सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षादित्यतीन्द्रियत्वाद्वचनादेरिन्द्रियगम्यस्यापि। तत्रातीन्द्रिययोः सर्वज्ञत्ववीतरागयोः सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम्। ततश्च न ज्ञायते किं वक्तृत्वात्सर्वज्ञ उत नेत्यनैकान्तिक इति।

संप्रति द्वयोरेव संदेहेऽनैकान्तिकं वक्तुमाह। अनयोरेवान्वयव्यतिरेकरूपयोः संदेहात्संशयहेतुः।

उदाहरणम्—

सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति।

सहात्मना वर्तते सात्मकमिति साध्यम्। शरीरमिति धर्मी। जीवद्ग्रहणं धर्मिविशेषणम्। मृते ह्यात्मानं नेच्छति। प्राणा आश्वासादय आदिर्यस्योन्मेषादेः प्राणिधर्मस्य स प्राणादिः। स यस्यास्ति तत्प्राणादिमज्जीवच्छरीरम्। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्मादित्येष हेतुः। अयमसाधारणः संशयहेतुरुपपादयितव्यः। पक्षधर्मस्य च द्वाभ्यां कारणाभ्यां संशयहेतुत्वम्। संशयविषयौ यावाकारौ ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात्। तयोश्च व्यापकयोराकारयोरेकत्रापि वृत्त्यनिश्चयाद्यकाभ्यां ह्याकाराभ्यां सर्वं वस्तु न संगृह्यते। तयोराकारयोर्न संशयः। प्रकारान्तरसम्भवे हि पक्ष-

धर्मो धर्मिणमवियुक्तं द्वयोरेकेन धर्मेण दर्शयितुं न शक्नुयादतो न संशयहेतुः स्यात् । द्वयोर्धर्मयोरनियतं भावं दर्शयन्संशयहेतुर्द्वयोस्त्वनियतमपि भावं दर्शयितुमशक्तोऽप्रतिपत्तिहेतुर्नियतं भावं दर्शयन्हेतुर्विरुद्धो वा स्यात्तस्माद्येकाभ्यां[1] सर्वं वस्तु संगृह्यते तयोः संशयहेतुर्यदि तयोरेकत्रापि सद्भावनिश्चयो न स्यात् । सद्भावनिश्चये तु यद्येकत्र नियतसत्तानिश्चयो विरुद्धो हेतुर्वा स्यात् । अनियतसत्तानिश्चये तु साधारणानैकान्तिकः[2] । संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः[3] संदिग्धान्वयोऽसिद्धव्यतिरेको वा स्यात् । एकत्रापि तु वृत्यनिश्चयादसाधारणानैकान्तिको भवति ।

ततोऽसाधारणानैकान्तिकस्यानैकान्तिकत्वे हेतुद्वयं दर्शयितुमाह—

न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति । यत्र प्राणादिर्वर्तते ।

न हीति । सहात्मना वर्तते सात्मकः । निष्क्रान्त आत्मा यस्मात्स निरात्मकः । ताभ्यां यस्मान्नान्यो राशिरस्ति । किंभूतो यत्रायं वस्तुधर्मः प्राणादिर्वर्तते । तस्मादयं तयोर्भवति संशयहेतुः ।

कस्मादन्यराश्यभाव इत्याह—

आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात् ।

आत्मनो वृत्तिः सद्भावो व्यवच्छेदोऽभावस्ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात्क्रोडीकरणात् । यत्र ह्यात्मास्ति तत्सात्मकम् । तदन्यन्निरात्मकम् । ततो नान्यो राशिरस्ति संशयहेतुत्वकारणम् ।

प्रकाराभ्यां सर्वसंग्रहं प्रतिपाद्य द्वितीयमाह—

नाप्यनयोरेकत्र वृत्तिनिश्चयः ।

नाप्यनयोः सात्मकानात्मकयोर्मध्य एकत्र सात्मकेऽनात्मके वा वृत्तेः सद्भावस्य निश्चयोऽस्ति । द्वावपि राशी त्यक्त्वा न वर्तते प्राणादिर्वस्तुधर्मत्वात् । ततश्चानयोरेव वर्तत इत्येतावदेव ज्ञातम् । विशेषे तु वृत्तिनिश्चयो नास्तीत्ययमर्थः ।

---

१ यकाभ्यां, क० थाभ्यां । २ साधारणानैकान्तिकः, क० साधारणानैकान्तिक० । ३ व्यावृत्तिकः, क० व्यावृत्तिकः २ ।

तदाह—

सात्मकत्वेन निरात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्राणादेरसिद्धिः ।

सात्मकत्वेनानात्मकत्वेन वा विशेषेण युक्ते प्रसिद्धे निश्चिते वस्तुनि प्राणादेर्धर्मस्यासिद्धेरनैकान्तिकोऽनिश्चितत्वात् । तदेवमसाधारणस्य धर्मस्यानैकान्तिकत्वे कारणद्वयमभिहितम् । पक्षधर्मश्च भवन्सर्वः साधारणोऽसाधारणो वा भवत्यनैकान्तिकः ।

तस्मादुपसंहारव्याजेन पक्षधर्मत्वं दर्शयति—

तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादिः ।

तस्मादित्यादिना जीवच्छरीरस्य सम्बन्धी पक्षधर्म इत्यर्थः । यस्मात्तयोरेकत्रापि न निवृत्तिनिश्चयस्तस्मात्ताभ्यां न व्यतिरिच्यते ।

वस्तुधर्मो हि सर्ववस्तुव्यापिनोः प्रकारयोरेकत्र नियतसद्भावो निश्चितः प्रकारान्तरान्निवर्तेत । तत एवाह—

सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तत्वेनासिद्धेः ।

सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद्वस्तुनो व्यावृत्तत्वेनासिद्धेरिति । प्राणादिस्तावत्कुतश्चिद्घटादेर्निवृत्त एव । ततः एतावदवसातुं शक्यं सात्मकादनात्मकाद्वा कियतो निवृत्तः । सर्वस्मात्तु निवृत्तो नावसीयते । ततो न कुतश्चिद्व्यतिरेकः ।

यद्येवमन्वयोऽस्तु तयोर्निश्चित इत्याह—

ताभ्यां न व्यतिरिच्यते न तत्रान्वेति ।

न तत्र सात्मकेऽनात्मके वार्थेऽन्वेत्यन्वयवान्प्राणादिः ।

कुत इत्याह—

एकात्मन्यप्यसिद्धेः ।

एकात्मनि सात्मकेऽनात्मके वासिद्धेः कारणात् । वस्तुधर्मतया तयोर्द्वयोरेकत्र वा वर्तते इत्यवसितः प्राणादिर्न तु सात्मक एव निरात्मक एव वा वर्तत इति कुतोऽन्वयनिश्चयः ।

---

१ भवन्सर्वः, क० भवत् सर्वः ।

ननु च प्रतिवादिनो न किञ्चित्सात्मकमस्ति । ततोऽस्य हेतोर्न सात्मकेऽन्वयो न व्यतिरेक इत्यन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । सात्मके न तु सद्भावसंशय इत्याह—

नापि सात्मकान्निरात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः ।

नापि सात्मकाद्वस्तुनस्तस्य प्राणादेरन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । नापि च निरात्मकात् । सात्मकादनात्मकादिति च पञ्चमी व्यतिरेकशब्दापेक्षया द्रष्टव्या ।

कथमन्वयव्यतिरेकयोर्नाभावनिश्चय इत्याह—

एकाभावनिश्चयस्यापराभावनान्तरीयकत्वात् ।

एकस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा योऽभावनिश्चयः सोऽपरस्य द्वितीयस्याभावे निश्चयनान्तरीयको भवति । निश्चयस्याव्यभिचारी तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्माद्यत एकाभावनिश्चयोऽपरभावनिश्चय[1]नान्तरीयकस्तस्मान्न द्वयोरेकत्राभावनिश्चयः ।

कस्मात्पुनरेकस्याभावनिश्चयोऽपरसद्भावनिश्चयाव्यभिचारीत्याह—

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् ।

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वादिति । अन्योन्यस्य व्यवच्छेदोऽभावः स एव रूपं ययोस्तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात्कारणात् । अन्वयव्यतिरेकौ भावाभावौ । भावाभावौ च परस्परव्यवच्छेदरूपौ । यस्य व्यवच्छेदेन यत्परिच्छिद्यते तत्तत्परिहारेण व्यवस्थितम् । स्वभावव्यवच्छेदेन च भावः परिच्छिद्यते । तस्मात्स्वाभावव्यवच्छेदेन भावो व्यवस्थितः । अभावो हि नीरूपो यादृशो विकल्पेन दर्शितः । नीरूपतां च व्यवच्छिद्य रूपमाकारवत्परिच्छिद्यते । तथा च सत्यन्वयाभावो व्यतिरेको व्यतिरेकाभावश्चान्वयः । ततोऽन्वयाभावे निश्चिते व्यतिरेको निश्चितो भवति । व्यतिरेकाभावे च निश्चितेऽन्वयो निश्चितो भवति । तस्माद्यदि नाम सात्मकमवस्तु निरात्मकं च वस्तु तथापि न तयोः प्राणादेरन्वय-

---

१ 'निश्चयन' इति पाठः क० पुस्तके नोपलभ्यते ।

व्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । एकवस्तुन्येकवस्तुनो युगपद्भावाभावविरोधात् । तयोरभावनिश्चयायोगात्[1] । न च प्रतिवाद्यनुरोधात्सात्मकानात्मके वस्तुनी सदसती किं तु प्रमाणानुरोधादित्युभे संदिग्धे । ततस्तयोः प्राणादिमत्त्वस्य[2] सदसत्त्वसंशयः ।

अत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादनैकान्तिकः ।

यत एव क्वचिदन्वयव्यतिरेकयोर्न भावनिश्चयो नाप्यभावनिश्चयस्तत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहः । यदि तु क्वचिदप्यन्वयव्यतिरेकयोरेकस्याप्यभावनिश्चयः स्यात्स एव द्वितीयस्य भावनिश्चय इत्यन्वयव्यतिरेकसंदेह एव न स्यात् । यतश्च न क्वचिद्भावाभावनिश्चयस्तत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहः । संदेहाच्चानैकान्तिकः—

कस्मादनैकान्तिकः—

साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ।

साध्यस्येतरस्य[3] च विरुद्धस्यातः संदिग्धान्वयव्यतिरेकान्निश्चयाभावात् । सपक्षविपक्षयोर्हि सदसत्त्वसंदेहेन साध्यस्य न विरुद्धस्य सिद्धिः[4] । न च सात्मकानात्मकाभ्यां च परः प्रकारः संभवति । ततः प्राणादिमत्त्वाद्धर्मिणि जीवच्छरीरे संशयः । आत्मभावाभावयोरित्यनैकान्तिकः प्राणादिरिति ।

त्रयाणां रूपाणामसिद्धौ संदेहे च हेतुदोषानुपपाद्योपसंहरन्नाह—

एवं त्रयाणां रूपाणामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा[5] रूपयोरसिद्धौ संदेहे च यथायोगमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ।

एवमित्यनन्तरोक्तेन क्रमेणैषां मध्य एकैकं रूपं यदसिद्धं संदिग्धं वा भवति । द्वे द्वे वासिद्धे संदिग्धे वा[6] भवतः । तदासिद्धश्च विरुद्धश्चानैकान्तिकश्च ते हेत्वाभासाः । यथायोगमिति । यस्यासिद्धौ संदेहे वा यो

---

१ निश्चयायोगात्, ख० निश्चययोगात् । २ प्राणादि० क० प्रमाणादि० । ३ ख० पुस्तके 'साध्यस्ये योर्हि' लिखित्वा पंक्तिरेका परित्यक्ता । ४ सिद्धिः, ख० असिद्धिः । ५ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते । ६ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

हेत्वाभासो युज्यते स तस्यासिद्धेः संदेहाच्च व्यवस्थाप्यत इति यस्य यस्य येन येन[1] योगो यथायोगमिति ।

विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । स इह कस्मान्नोक्तः ।

ननु चाचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । हेत्वन्तरसाधितस्य विरुद्धं[2] यत्तन्न व्यभिचरति स विरुद्धाव्यभिचारी । यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनादव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचाराद्विरुद्धाव्यभिचारी ।

सत्यमुक्त आचार्येण । मया त्विह नोक्तः । कस्मादित्याह—

अनुमानविषयेऽसंभवात् ।

अनुमानस्य विषयः प्रमाणसिद्धं त्रैरूप्यम् । यतो ह्यनुमानसद्भावः सोऽनुमानस्य विषयः । प्रमाणसिद्धाच्च त्रैरूप्यादनुमानसद्भावस्तस्मात्तदेवानुमानविषयः । तस्मिन् प्रक्रान्ते न विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः । प्रमाणसिद्धो हि त्रैरूप्ये प्रस्तुते स एव हेत्वाभासः संभवति यस्य प्रमाणसिद्धं रूपम् । न च विरुद्धाव्यभिचारिणः प्रमाणसिद्धमस्तिरूपम् । अतो न संभवः । ततोऽसंभवो नोक्तः ।

कस्मादसंभव इत्याह—

न हि संभवोऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः । न चान्योऽव्यभिचारी ।

न हीति । यस्मान्न संभवोऽस्ति विरुद्धतायाः । कार्यं च स्वभावश्च तयोरुक्तलक्षणयोरिति । कार्यस्य कारणाज्जन्मलक्षणं तत्त्वम् । स्वभावस्य च साध्यव्याप्तत्वं तत्त्वम् । यत्कार्यं यश्च स्वभावः स कथमात्मकारणं व्यापकं च स्वभावं परित्यज्य भवेद्येन विरुद्धः स्यात् । अनुपलम्भस्य चोक्तलक्षणस्येति । दृश्यानुपलम्भत्वमनुपलम्भलक्षणम् । तस्यापि च स्वभावाव्यभिचारित्वान्न विरुद्धत्वसंभवः स्यात्[3] । एतेभ्यो-

१ पदमिदं क० पुस्तके नोपलभ्यते । २ विरुद्धं यत्, ख० यद्विरुद्धं । ३ स्यात्, ख० स्यादेति तत् ।

ऽन्यो भविष्यतीत्याह । न चान्य एतेभ्योऽव्यभिचारी त्रिभ्योऽत एव तेष्वेव हेतुत्वम् ।

क तर्ह्याचार्यदिङ्नागेनायं हेतुदोष उक्त इत्याह ।

तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः ।

यस्माद्वस्तुबलप्रवृत्तेऽनुमाने न संभवति तस्मादागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य विरुद्धाव्यभिचार्युक्तः । आगमसिद्धं हि यस्यानुमानस्य लिङ्गत्रैरूप्यं तस्यागम आश्रयः ।

ननु चागमसिद्धमपि त्रैरूप्यं प्रमाणसिद्धमित्याह । अवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमिति । अवस्तुनो दर्शनं विकल्पमात्रं तस्य बलं सामर्थ्यम् । ततः प्रवृत्तमप्रमाणाद्विकल्पमात्राद्व्यवस्थितं त्रैरूप्यमागमसिद्धमनुमानस्य । न तु प्रमाणात् ।

तत्तर्ह्यनुमानेनागमसिद्धत्रैरूप्यं क्वाधिकृतमित्याह । तदर्थेति । तस्यागमस्य योऽर्थोऽतीन्द्रियः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविषयीकृतः सामान्यादिस्तस्य विचारेषु प्रक्रान्तेष्वागमाश्रयमनुमानं संभवति । तदाश्रयो विरुद्धाव्यभिचार्युक्त आचार्येणेति ।

कस्मात्पुनरागमाश्रयेऽ[2]प्यनुमाने संभव इत्याह—

शास्त्रकाराणामर्थेषु भ्रान्त्या विपरीतस्य स्वभावोपसंहारसंभवात् ।

शास्त्रकृतां विपरीतस्य वस्तुविरुद्धस्य स्वभावस्योपसंहारो ढौकनमर्थेषु तस्य संभवाद्विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः । भ्रान्त्येतिविपर्यासेन । विपर्यस्ता हि शास्त्रकाराः सन्तमसन्तं स्वभावमारोपयन्तीति ।

यदि शास्त्रकृतोऽपि भ्रान्ता अन्येष्वपि पुरुषेषु क आश्वास इत्याह—

न ह्यस्य संभवो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्येपूपलम्भेषु ।

---

१ पाठोऽयं क० पुस्तके नोपलभ्यते । २ क० आगमाश्रयो ।

नहीति । न हेतुषु कल्पनया हेतुत्वव्यवस्थापि तु वस्तुस्थित्या । ततो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेष्वस्य संभवो नास्ति । अवस्थितं परमार्थसद्वस्तु तदनतिक्रान्ता यथावस्थिता वस्तुस्थितिव्यवस्था येषां ते यथावस्थितवस्तुस्थितयः । ते हि यथा वस्तु स्थितं तथा स्थिता न कल्पनयातस्तेषु न भ्रान्तेरवकाशोऽस्ति येन विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः स्यात् ।

तत्र विरुद्धाव्यभिचारिण्युदाहरणम्—

तत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिः संबध्यते तत्सर्वगतं यथाकाशमभिसंबध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत्सामान्यमिति ।

यत्सर्वस्मिन्देशेऽवस्थितैः स्वसंबन्धिभिर्युगपदभिसंबध्यते तत्सर्वदेशावस्थितैरभिसंबध्यमानत्वं सामान्यस्यानूद्य सर्वगतत्वं विधीयते । तेन युगपदभिसंबध्यमानत्वं सर्वगतत्वे नियतं तेन व्याप्तं कथ्यते । इह सामान्यं कणादमहर्षिणा निष्क्रियं दृश्यमेकं[1] चोक्तम् । युगपच्च सर्वैः स्वैः स्वैः सम्बन्धिभिः[2] समवायेन संबद्धम् । तत्र पैलुकेन कणादशिष्येण व्यक्तिषु व्यक्तिरहितेषु च देशेषु सामान्यं स्थितं साधयितुं प्रमाणमिदमुपन्यस्तम् । यथाकाशमिति । व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । आकाशमपि हि सर्वदेशावस्थितैर्वृक्षादिभिः स्वसंयोगिभिर्युगपदभिसंबध्यमानं सर्वगतं चाभिसम्बध्यते च[3] सर्वदेशावस्थितैः स्वसंबन्धिभिरिति हेतोः पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम्—

अस्य स्वभावहेतुत्वं प्रयोजयितुमाह—

तत्संबन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितस्वभावता ।

तत्संबन्धीति । तेषां सर्वदेशावस्थितानां द्रव्याणां संबन्धी सामान्यस्य स्वभावः स एव तत्संबन्धिस्वभावमात्रम् । तदनुबध्नातीति तदनु-

---

१ एकं, ख० एव । २ संबन्धिभिः, ख० स्वसम्बन्धिभिः । ३ च, ख० वा ।

बन्धिनी । कासावित्याह—तद्देशसंनिहितस्वभावता । तेषां संबन्धिनां देशस्तद्देशस्तद्देशे संनिहितः स्वभावो यस्य तत्तद्देशसंनिहितस्वभावं तस्य भावस्तत्ता । यस्य हि येषां संबन्धी स्वभावस्तन्नियमेन तेषां देशे संनिहितं भवति । ततस्तत्संबन्धित्वानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितता सामान्यस्य ।

ननु च गवां संबन्धी स्वामी । न च तद्देशे संनिहितस्वभावः स्वामी । तत्कथं संबन्धित्वात्तद्देशत्वमित्याह—

न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतुप्रयोगः ।

न हीति । यो यत्र देशे नास्ति स देशो यस्य स तद्देशस्तं न व्याप्नोत्यात्मना स्वरूपेण । इह सामान्यस्य तद्वतां च समवायलक्षणः[1] संबन्धः । स चाभिन्नदेशयोरेव । तेन[2] यत्र यत्समवेतं तत्तदात्मीयेन रूपेण क्रोडीकुर्वत्समवायिरूपदेशे स्वात्मानं निवेशयति । तद्देशरूपनिवेशनमेव तत्क्रोडीकरणम्[3] । ततस्तत्समवायः । तस्माद्यद्यत्र समवेतं तत्तद्द्रव्यं व्याप्नुवदात्मना तद्देशे संनिहितं भवति । तदयमर्थः । तद्देशस्थवस्तु व्यापनं तद्देशसत्तया व्याप्तम् । तद्देशसत्ताभावे[4] तद्व्यापनाभावाद्व्यापनलक्षणः समवायसंबन्धो न स्यात् । अस्ति च व्यापनम् । अतस्तद्देशे संनिहितत्वमिति । तदयं स्वभावहेतुः ।

पैठरप्रयोगं दर्शयन्नाह—

द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत्तत्रास्ति । तद्यथा-क्वचिदविद्यमानो घटः ।

द्वितीयोऽपीति । यदुपलब्धेर्लक्षणतां विषयतां प्राप्तं दृश्यमित्यर्थः । एतेन दृश्यानुपलब्धिमनूद्य तत्तत्त्रास्तीत्यसद्व्यवहार्यत्वं[5] विहितम् । ततो व्याप्यदृश्यानुपलब्धेर्व्यापकमसद्व्यवहार्यत्वं दर्शितम् । तद्यथेति । क्वचिदसन्घटो दृष्टान्तः ।

---

१ समवायलक्षणः, क० समवायलक्षण० । २ तेन, ख० अनेन । ३ तत्क्रोडी० ख० न क्रोडी० । ४ तद्देशसत्ताभावे, ख० तद्देशसत्ताया अभावे । ५ तत्तत्त्त्र, क० ततत्तत्र ख० तत्तत्र ।

पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह—

नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति ।

नोपलभ्यते चेति । व्यक्तेरन्तरालं व्यक्त्यन्तरं च व्यक्तिशून्यं चाकाशं दृश्यमपि कस्यांचिद्व्यक्तौ गोसामान्यमश्वादिषु व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे चोपलभ्यते । तस्मान्न तेष्वस्तीति गम्यते ।

अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः ।

अयमनुपलम्भः पूर्वोक्तश्च स्वभावः परस्परविरुद्धौ यावर्थौ तयोः साधनात्तावेकस्मिन्धर्मिणि संशयं जनयतः । न ह्येकोऽर्थः परस्परविरुद्धस्वभावो भवितुमर्हति । एकेन चात्र व्यक्त्[2]यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे सत्त्वम् । अपरेण चानुपलम्भेनासत्त्वं साध्यते । न चैकस्यैकदैकत्र सत्त्वमसत्त्वं च युक्तं तयोर्विरोधात् । तदागम[3]सिद्धस्य सामान्यस्य सर्वगतत्वा[4]सर्वगतत्वयोः साध्ययोरेतौ विरुद्धाव्यभिचारिणौ जातौ । यतः सामान्यस्यैकस्य युगपत्सर्वदेशावस्थितैरभिसंब[5]न्धित्वं चाभ्युपगतं दृश्यत्वं च । ततः सर्वसम्बन्धित्वात्सर्वगतत्वं दृश्यत्वादन्तरालानुपलम्भादसर्वगतत्वं । ततः शास्त्रकारेणैव विरुद्धव्याप्तत्वमपश्यता विरुद्धव्याप्तौ धर्मावुक्त्[6]वा विरुद्धाव्यभिचार्यवकाशो दत्त इति । न च[7] वस्तुन्यस्य संभवः । इत्युक्ता हेत्वाभासाः ।

ननु च साधनावयवत्वाद्यथा हेतव उक्तास्तत्प्रसङ्गेन हेत्वाभासास्तथा साधनावयवत्वाद् दृष्टान्ता वक्तव्यास्तत्प्रसङ्गेन च दृष्टान्ताभासास्तत्कथं नोक्ता इत्याह—

---

१ व्यक्तिशून्ये, क० शून्ये । २ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ३ तदागमसिद्धस्य, क० तदागममसि० (अशुद्धः) ख० तस्मादागम० । ४ सर्वगतत्वासर्वगतत्वयोः, ख० सर्वगतत्वयोः । ५ अभिसंबन्धित्वं, ख० अभिसंबद्धत्वं । ६ उक्त्वा विरुद्ध०, ख० उक्तौ । इह विरुद्ध० । ७ न च वस्तुन्यस्य, ख० न वस्तुन्यस्य हेतोः ।

त्रिरूपो हेतुरुक्तः ।

त्रिरूपो हेतुरुक्तः[1]स्तत्किं दृष्टान्तैः ।

स्यादेतत्तावता नार्थप्रतीतिरित्याह—

तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित् ।

तावतैवेति[2] । उक्तलक्षणेनैव हेतुना भवति साध्यप्रतीतिः । अतः[3] स एव गमकस्तद्वचनमेव[4] साधनम् । न दृष्टान्तो नाम साधनस्यावयवः । यतश्चायं नावयवस्तेन नास्य दृष्टान्तस्य लक्षणं हेतुलक्षणात्पृथगुच्यते । कथं तर्हि हेतोर्व्याप्तिनिश्चयो यद्यदृष्टान्तको हेतुरिति चेत् । नोच्यते हेतुरदृष्टान्तक एवापि तु न हेतोः पृथग्दृष्टान्तो नाम । हेत्वन्तर्भूत एव दृष्टान्तः ।

तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते ।

अत एवोक्तं नास्य लक्षणं पृथगुच्यत इति[5] । न त्वेवमुक्तं नास्य लक्षणमुच्यत इति[6] ।

यद्येवं हेतूपयोगिनोऽपि लक्षणं वक्तव्यमेवेत्याह ।

गतार्थत्वात् ।

गतार्थत्वात् । गतोऽर्थः प्रयोजनमभिधेयं वा यस्य दृष्टान्तलक्षणस्य तत्तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । दृष्टान्तलक्षणं ह्युच्यते दृष्टान्तप्रतीतिर्यथा स्यात् । दृष्टान्तश्च हेतुलक्षणादेवावसितः । ततो दृष्टान्तलक्षणस्य यत्प्रयोजनं दृष्टान्तप्रतीतिस्तद्गतं निष्पन्नमभिधेयं वा । गतं ज्ञानं[7] दृष्टान्ताख्यम् ।

कथं गतार्थत्वमित्याह—

हेतोः सपक्ष एव सत्त्वमसपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्ती रूपमुक्तमभेदेन पुनर्विशेषेण कार्यस्वभावयोर्जन्म तन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ ।

---

१ 'उक्तः' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । २ तावतैवेति, क० तावता चेति । ३ अतः, ख० ततः । ४ तद्वचनं, ख० ततस्तद्वचनम् । ५ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ६ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ७ पदमिदं क० पुस्तके नोपलभ्यते ।

हेतो रूपमभेदेनोक्तं[1] सामान्येन साधारणं कार्यस्वभावानुपलम्भानामेतल्लक्षणमित्यर्थः। किं पुनस्तत्सपक्ष एव यत्[2]सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्या रूपद्वयमेतदभेदेनोक्तम्। न च सामान्यमुक्तमपि शक्यं ज्ञातुम्। अतस्तदेव विशेषनिष्ठं वक्तव्यम्। अतः पुनरपि विशेषेण विशेषवन्तौ जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। कार्यस्य जन्म ज्ञातव्यमुक्तम्। जन्मनि हि विज्ञाते[3] कार्यस्य सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्ज्ञाता भवति। स्वभावस्य तन्मात्रानुबन्धो दर्शनीय उक्तः। तदिति साधनं तदेव तन्मात्रं साधनमात्रं तस्यानु[4]बन्धोऽनुगमनं साधनमात्रभावे भावः साध्यस्य। तन्मात्रभावित्वमेव हि साध्यस्य तादात्म्यम्। साधनस्य यदा स्वभावो ज्ञातो भवति तदा स्वभावहेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्ज्ञाता भवति। तदेवं सामान्यलक्षणं विशेषात्मकं ज्ञातव्यं नान्यथा। ततो विशेषलक्षणमुक्तम्।

किमतो यदि नामैवमित्याह—

तच्च दर्शयता यत्र धूमस्तत्राग्निरसत्यग्नौ न क्वचिद्धूमो यथा महानसेतरयोः।

तत्र सामान्यलक्षणे दर्शयितुकामेन विशेषलक्षणं दर्शयतैवं[5] दर्शनीयमिति संबन्धः। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति कार्यहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। व्याप्तिश्च कार्यकारणभावसाधनात्प्रमाणान्निश्चीयते। ततो यथा महानस इति दर्शनीयम्। असत्यग्नौ न भवत्येव धूम इति व्यतिरेको दर्शितः। स च यथेतरस्मिन्निति दर्शनीयः। वह्निनिवृत्तिर्हि धूमनिवृत्तौ नियता दर्शनीया। सा च महानसादितरत्र[6] दर्शनीया।

यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमनित्यत्वाभावे कृतकत्वासंभवो यथा घटाकाशयोरिति दर्शनीयम्।

यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमिति स्वभावहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। अनि-

---

१ अभेदेनोक्तं, ख० उक्तमभेदेन। २ 'यत्' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते। ३ विज्ञाते, ख० ज्ञाते। ४ तस्य, ख० साधनमात्रस्य। ५ एवं, ख० एवं च। ६ इतरत्र, क० इतरत्रेति।

त्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति व्यतिरेको दर्शितः। व्याप्तेश्च साधकं प्रमाणं साधर्म्यदृष्टान्ते दर्शनीयम्। प्रसिद्धव्याप्तिकस्य च हेतोः साध्यनिवृत्तौ निवृत्तिर्दर्शनीया। तदवश्यं यथा घटे यथाकाशे चेति दर्शनीयम्।

कस्मादेवमित्याह—

न ह्यन्यथा सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे शक्ये दर्शयितुम्।

न हीति। यस्मादन्यथा सामान्यलक्षणरूपे सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे[2] यथोक्तप्रकारे इति नियते। सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षेऽसत्त्वमेवेति नियमो यथोक्तप्रकारः। ते न शक्ये दर्शयितुम्। विशेषलक्षणे हि दर्शिते यथोक्तप्रकारे सदसत्त्वे दर्शिते भवतः। न च विशेषलक्षणमन्यथा शक्यं दर्शयितुम्।

तत्कार्यतानियमः कार्यलिङ्गस्य स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन व्याप्तिः।

तस्य साध्यस्य कार्यं तत्कार्यं धूमस्तस्य भावस्तत्कार्यता सैव नियमो यतस्तत्कार्यतया धूमो दहने नियतः सोऽयं तत्कार्यतानियमो विशेषलक्षणरूपोऽन्यथा दर्शयितुमशक्यः। स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन साध्येन व्याप्तिर्विशेषलक्षणरूपा न शक्या दर्शयितुम्। यस्मात्कार्यकारणभावस्तादात्म्यं च महानसे घटे च ज्ञातव्यं तस्माद्व्याप्तिसाधनं प्रमाणं दर्शयता साधर्म्यदृष्टान्तो[3] दर्शनीयः। वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु प्रसिद्धे तत्कार्यत्वे कारणाभावे कार्याभावप्रतिपत्त्यर्थम्। तत एव नावश्यं वस्तु भवति। कारणाभावे कार्याभावो वस्तुन्यवस्तुनि वा भवति। ततो वस्त्ववस्तु वा वैधर्म्यदृष्टान्त इष्यते। तस्माद् दृष्टान्तै[4]र्व्यतिरेकेण हेतोरै[5]न्वयो व्यतिरेको वा न शक्यो दर्शयितुम्। अतो हेतुरूपाख्यानादेव हेतोर्व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य दर्शकः साधर्म्यदृष्टान्तः। प्रसिद्धव्याप्तिकस्य साध्याभावे हेत्वभावप्रदर्शनाद्वैधर्म्यदृष्टान्त उपादेय इति च दर्शितं भवति।

---

१ साधर्म्य० ख० साधर्म्य। २ सदसत्त्वे, क० सदसत्त्वे २। ३ साधर्म्य०, ख० साध्य०। ४ दृष्टान्तव्यतिरेकेण, ख० दृष्टान्तमन्तरेण। ५ हेतो……न, ख० न हेतो।

अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति ।

अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति ।

योऽयमर्थो व्याप्तिसाधनप्रमाणप्रदर्शिनः[1] कश्चिदुपादेयो निवृत्तिप्रदर्शनश्चेत्यस्मिन्नर्थे प्रदर्शिते[2] दर्शितो दृष्टान्त इत्याह—

एतावन्मात्ररूपत्वात्तस्येति ।

एतावन्मात्रं रूपं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादिति । एतावदेव हि रूपं दृष्टान्तस्य । यदुत व्याप्तिसाधनप्रमाणदर्शनत्वं नाम साधर्म्यदृष्टान्तस्य प्रसिद्धव्याप्तिकस्य वा साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिप्रदर्शकत्वमित्येतद्वैधर्म्यदृष्टान्तस्य[3] । तच्च हेतुरूपाख्यानादेवाख्यातमिति किं दृष्टान्तलक्षणेन ।

एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति ।

एतेनैव च हेतुरूपाख्यानाद् दृष्टान्तत्वप्रदर्शनेन दृष्टान्तस्य[4] दोषा दृष्टान्ताभासाः कथिता भवन्ति । तथाहि । पूर्वोक्तसिद्धये य उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तो न[5] समर्थः स्वकार्यं साधयितुं स दृष्टान्तदोष इति सामर्थ्यादुक्तं[6] भवति ।

दृष्टान्ताभासानुदाहरति—

यथा—नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् । कर्मवत्परमाणुवद्घटवदिति ।

यथेति । नित्यः शब्द इति । शब्दस्य[7] नित्यत्वे साध्येऽमूर्तत्वादिति हेतुः । साधर्म्येण कर्मवत्परमाणुवद्घटवदित्येते दृष्टान्ता उपन्यस्ताः ।

एते च दृष्टान्तदोषाः—

साध्यसाधनधर्मोभयविकलास्तथा संदिग्धसाध्यधर्मादयश्च ।

---

१ प्रदर्शनः, क० प्रदर्शिन, ख० दर्शकः । २ प्रदर्शिते, ख० दर्शिते । ३ 'वधर्म्यदृष्टान्तस्य तत्' इति पाठः ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ४ दृष्टान्तस्य दोषाः, क० पुस्तकस्य 'दोषा' मलिनत्वेन न पठ्यते । ख० दृष्टान्तदोषा । ५ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ६ उक्तं भवति, ख० इत्येतदुक्तं भवति । ७ शब्दस्य नित्यत्वे साध्ये, ख० नित्यत्वे साध्ये शब्दस्य ।

साध्यं च साधनं चोभयं चेति तैर्विकलाः। साध्यविकलं कर्म तस्यानित्यत्वात्। साधनविकलः परमाणुर्मूर्तत्वात्परमाणूनाम्। असर्वगतं द्रव्यपरिमाणं मूर्तिः। असर्वगताश्च द्रव्यरूपाश्च परमाणवः। नित्यास्तु वैशेषिकैरिष्यन्ते। ततो न साध्यविकलः। घटस्तूभयविकलः। अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्येति। तथा संदिग्धः साध्यधर्मो यस्मिन्स संदिग्धसाध्यधर्मः स आदिर्येषान्ते तथोक्ताः। संदिग्धसाध्यधर्मः। संदिग्धसाधनधर्मः। संदिग्धोभयः।

उदाहरणम्—

यथा—रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत्।

रागादिमानिति रागादिमत्त्वं साध्यम्। वचनादिति हेतुः। रथ्यापुरुषवदिति दृष्टान्तः। रागादिमत्त्वं संदिग्धम्।

मरणधर्मोऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत्।

मरणं धर्मोऽस्येति मरणधर्मा तस्य भावो मरणधर्मत्वं साध्यम्। अयं पुरुष इति धर्मी। रागादिमत्त्वादिति हेतुः। रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते संदिग्धं साधनं साध्यं तु निश्चितं मरणधर्मत्वमिति।

असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्वाद्रथ्यापुरुषवदिति।

असर्वज्ञ इति। असर्वज्ञत्वं साध्यम्। रागादिमत्त्वादिति हेतुः। तदुभयमपि रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते संदिग्धम्। असर्वज्ञत्वं रागादिमत्त्वं चेति।

अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च।

तथानन्वय इति। यस्मिन् दृष्टान्ते साध्यसाधनयोः संभवमात्रं दृश्यते न तु साध्येन व्याप्तो हेतुः सोऽनन्वयः। अप्रदर्शितान्वयश्च यस्मिन् दृष्टान्ते विद्यमानोऽप्यन्वयो न प्रदर्शितो वक्त्रा सोऽप्रदर्शितान्वयः।

अनन्वयमुदाहरति।

यथा—यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत्।

यथेति। यो वक्तेति वक्तृत्वमनूद्य स रागादिमानिति रागादिमत्त्वं[1]

---

1 रागादिमत्वं, क० रागादिमत्त्वे।

विहितम् । ततो वक्तृत्वस्य रागादिमत्त्वं विहितम् । ततो वक्तृत्वस्य रागादिमत्त्वं प्रति नियमस्तेन व्याप्तिरुक्ता । इष्टपुरुषवदिति । इष्टग्रहणेन प्रतिवाद्यपि गृह्यंते[1] वाद्यपि[2] । तेन वक्तृत्वरागादिमत्त्वयोः सत्त्वमात्रमिष्टे पुरुषे सिद्धम् । व्याप्तिस्तु न सिद्धा । तेनानन्वयो दृष्टान्त इति ।

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति ।

अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वं साध्यम् । कृतकत्वादिति हेतुः । घटवदित्यत्र[3] दृष्टान्तेन प्रदर्शितोऽन्वयः । इह यद्यपि कृतकत्वेन घटसदृशः शब्दस्तथापि नानित्यत्वेनापि सदृशः प्रत्येतुं शक्यो[4]ऽतिप्रसङ्गात् । यदि तु कृतकत्वमनित्यत्वं[5]स्वभावं विज्ञातं भवत्येवं कृतकत्वादनित्यत्वप्रतीतिः स्यात् । तस्माद्यत्कृतकं तदनित्यमिति । कृतकत्वमनित्य[6]त्वनियतमभिधाय नियमसाधनायान्वयवाक्यार्थप्रतिपत्तिविषयो दृष्टान्त उपादेयः । स च प्रदर्शितान्वय एव । अनेन त्वन्वयवाक्यमनुक्त्वैव दृष्टान्त उपात्तः । ईदृशश्च साधर्म्यमात्रेणैवोपयोगी । न च साधर्म्यात्साध्यसिद्धिः । अतोऽन्वयार्थो दृष्टान्तस्तदर्थश्चानेन नोपात्तः । साधर्म्यार्थश्चोपात्तो निरुपयोग इति वक्तृदोषादयं दृष्टान्तदोषः । वक्त्रा ह्यत्र परः प्रतिपादयितव्यः । ततो यदि नाम न दुष्टं वस्तु तथापि वक्त्रा दुष्टं दर्शितमिति दुष्टमेव ।

तथा विपरीतान्वयः ।

तथा विपरीताऽन्वयो यस्मिन् दृष्टान्ते स तथोक्तः ।

तमेवोदाहरति—

यदनित्यं तत्कृतम् ।

यदनित्यं तत्कृतकमिति । कृतकत्वमनित्यत्वनियतं दृष्टान्ते दर्शनीयम् । एवं कृतकत्वादनित्यत्वगतिः स्यात् । अत्र त्वनियत्वं कृतकत्वे नियतं दर्शितम् । कृतकत्वं त्वनियतमेवानित्यत्वे । ततो यादृशमिह कृतकत्वमनियतमनित्यत्वे प्रदर्शितं तादृशान्नास्त्यनित्यत्वप्रतीतिः । तथा हि । यद-

---

१ गृह्यते, ख० संगृह्यते । २ वाद्यपि, क० विद्यपि । ३ 'अत्र' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ४ शक्यः, ख० शक्यते । ५ अनित्यत्व० ख० अनित्य । ६ अनित्यत्व०, ख० अनित्यत्वे ।

नित्यमित्यनित्यत्वमनूद्य तत्कृतकमिति कृतकत्वं विहितम्। अतोऽनित्यत्वं नियतमुक्तं कृतकत्वे न तु कृतकत्वमनित्यत्वे। ततो यथानित्यत्वादनियतात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन प्रयत्नानन्तरीयकत्वप्रतीतिस्तद्वत्कृतकत्वादनित्यत्वप्रतिपत्तिर्न स्यात्। अनित्यत्वेऽनियतत्वात्कृतकत्वस्य। यद्यपि च कृतकत्वं वस्तुस्थित्यानित्यत्वे नियतं तथाप्यनियतं[1] वक्त्रा दर्शितम्। अतस्तत्स्वयं न दुष्टमपि वक्तुर्दोषाद्[2]दुष्टम्। तस्माद्विपरीतान्वयोऽपि वक्तुरपराधान्न वस्तुतः। परार्थानुमाने च वक्तुरपि दोषश्चिन्त्यते।

इति साधर्म्येण।

इति साधर्म्येण नव[3] दृष्टान्तदोषा उक्ताः।

वैधर्म्येणापि[4] नव[5] दृष्टान्तदोषान् वक्तुमाह[6]—

वैधर्म्येणापि परमाणुवत्कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः।

नित्यत्वे शब्दस्य साध्ये हेतावमूर्तत्वे परमाणुवद्[7]वैधर्म्यदृष्टान्तः। साध्याव्यतिरेकी नित्यत्वात्परमाणूनाम्। कर्म साधनाव्यतिरेकि। अमूर्तत्वात्कर्मणः। आकाशमुभयाव्यतिरेकि। नित्यत्वादमूर्तत्वाच्च। साध्यमादिर्येषां तानि साध्यादीनि साध्यसाधनोभयानि तेषामव्यतिरेको वृत्त्यभावः[8] स येषामस्ति ते साध्याद्यव्यतिरेकिणः। ते चोदाहृताः।

अपरानुदाहर्तुमाह—

तथा संदिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः।

तथेति। साध्यस्य व्यतिरेकः साध्यव्यतिरेकः संदिग्धः साध्यव्यतिरेको यस्मिन् स संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः स आदिर्येषां ते तथोक्ताः।

संदिग्धसाध्यव्यतिरेकमुदाहर्तुमाह—

यथाऽसर्वज्ञाः[9] कपिलादयोऽनाप्ता वा। अविद्यमान-

१ 'तथाप्यनियतं' इति पाठः क० पुस्तके नोपलभ्यते। २ वक्तुर्दोषात्, क० वक्तुर्दोषात्, ख० वक्तृदोषात्। ३ नव दृष्टान्त०, ख० तद्दृष्टान्त०। ४ मुद्रितपुस्तके 'द्वैधर्म्येण'। ५ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते। ६ वक्तुमाह, ख० वक्तुकाम आह। ७ परमाणुवत्, ख० परमाणु०। ८ वृत्यभावः, ख० निवृत्ताभावः (अशुद्धः)। ९ 'यथाऽसर्वज्ञाः' इति पाठोऽस्माकं सम्मतौ। मुद्रितपुस्तके तु 'यथा सर्वज्ञाः' इति पाठ एव।

सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति ।

यथेति । असर्वज्ञा इत्येकं साध्यम् । अनाप्ता अक्षीणदोषा इति द्वितीयम् । कपिलादय इति धर्मी। अविद्यमानसर्वज्ञतेत्यादिहेतुः । सर्वज्ञता चाप्तता च तयोर्लिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो लिङ्गात्मकः प्रमाणविशेषः । अविद्यमानः सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो यस्मिंस्तत्तथोक्तं शासनम् । तादृशं शासनं येषां ते तथोक्तास्तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात्प्रमाणातिशयो ज्योतिर्ज्ञानोपदेश इहाभिप्रेतः । यदि हि कपिलादयः सर्वज्ञा आप्ता वा स्युस्तदा ज्योतिर्ज्ञानादिकं कस्मान्नोपदिष्टवन्तः । न चोपदिष्टवन्तः । तस्मान्न सर्वज्ञा आप्ता वा ।

अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम्—

अत्र वैधर्म्योदाहरणं यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् ।

यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकं सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतमुपदिष्टवान् ।

तद्यथा । ऋषभ[1]वर्धमान[2]ादिरिति ।

यथा ऋषभो वर्धमानश्च तावादौ यस्य स ऋषभवर्धमानादिर्दिग[3]म्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति ।

तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः ।

तदिह वैधर्म्योदाहरणादृषभादेरसर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यतिरेको व्यावृत्तिः संदिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं चोपदिशेदसर्वज्ञश्च भवेदनाप्तो वा । कोऽत्र विरोधः । नैमित्तिकमेतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्वमनुमापयेत् ।

संदिग्धसाधनव्यतिरेकः ।

संदिग्धः साधनव्यतिरेको यस्मिन्स तथोक्तः ।

---

१ जैनानां चतुर्विंशतितीर्थंकरमध्ये प्रथमस्तीर्थंकरः । २ तेषामेवान्तिमः । यश्च 'महावीरः' इत्यभिख्यामपि लभते । ३ 'दिगम्बरः' जैनानां सम्प्रदायविशेषोऽस्ति । यद्यपि चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकराः श्वेताम्बरादिभिरपि मन्यन्ते तथापि 'ग्रन्थकर्तृसमये न श्वेताम्बरास्सर्वसाधारणैर्ज्ञायन्ते स्म' इत्यपि कथयितुं शक्नुवन्ति ।

तमुदाहरति—

यथा—न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चित्पुरुषो रागादिमत्त्वादिति ।

यथेति । ऋक्सामयजूंषि त्रीणि त्रयी तां वेत्ति त्रयीवित् । तेन न ग्राह्यं वचनं यस्येति साध्यम् । विवक्षित इति कपिलादिर्धर्मी । रागादिमत्त्वादिति हेतुः ।

अत्र वैधर्म्योदाहरणम् ।

अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम् । साध्याभावः साधनाभावेन व्याप्तो[1] यत्र दर्श्यते तद्वैधर्म्योदाहरणम् ।

ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तस्तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः ।

ग्राह्यं वचनं येषां ते ग्राह्यवचना इति साध्यनिवृत्तिमनूद्य न ते रा[2]गादिमन्त इति साधनाभावो विहितः । गौतम आदिर्येषां ते तथोक्ता मन्वादयो धर्मशास्त्राणि स्मृतयस्तेषां कर्तारः । त्रयीविदा हि ब्राह्मणेन ग्राह्यवचना धर्मशास्त्रकृतो वीतरागाश्च । त इ[3]ति धर्मी । व्यतिरेकविषयो गौतमादय इति गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनस्य निवृत्तिः संदिग्धा । यद्यपि ते ग्राह्यवचना[4]स्त्रयीविदा तथापि किं सरागा उत वीतरागा इति संदेहः ।

संदिग्धासंदिग्धोभयव्यतिरेकः ।

सन्दिग्ध उभयोर्व्यतिरेको यस्मिन् स तथोक्तः ।

तमुदाहरति—

यथाऽवीतरागाः कपिलादयः परिग्रहाग्रहयोगादिति ।

यथेति । अवीतरागा इति रागादिमत्त्वं साध्यम् । कपिलादय इति

---

१ व्याप्तो यत्र, ख० यत्र व्याप्तः । २ रागादि०, ख० रोगादि० । ३ त इति, ख० त इतीह । ४ त्रयीविदा, ख० त्रयीविदः ।

धर्मी । परिग्रहो लभ्यमानस्य स्वीकारः प्रथमः । स्वीकारादूर्ध्वं यद्गार्ध्यं मात्सर्यं स आग्रहः । परिग्रहश्चाग्रहश्च ताभ्यां योगात् । कपिलादयो लभ्यमानं स्वीकुर्वन्ति स्वीकृतं न मुञ्चन्तीति ते रागादिमन्तो गम्यन्ते ।

अत्र वैधर्म्येणोदाहरणम् ।

अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम् । यत्र साध्याभावे साधनाभावो दर्शयितव्यः ।

यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहो यथा—ऋषभादेरिति । ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः ।

यो वीतराग इति साध्याभावमनूद्य न तस्य परिग्रहाग्रहाविति साधनाभावो विहितः । यथा ऋषभादेरिति दृष्टान्तः । एतस्मादृषभादेर्दृष्टान्तादवीतरागत्वस्य साध्यस्य परिग्रहाग्रहयोगस्य[1] च साधनस्य निवृत्तिः संदिग्धा । ऋषभादीनां हि परिग्रहाग्रहयोगोऽपि संदिग्धो वीतरागत्वं च । यदि नाम तत्सिद्धान्ते वीतरागाश्च निष्परिग्रहाश्च पठ्यन्ते तथापि संदेह एव ।

अपरानपि त्रीनुदाहर्तुमाह—

अव्यतिरेको यथाऽवीतरागो वक्तृत्वात् ।

अविद्यमानोऽव्यतिरेको यस्मिन् सोऽव्यतिरेकः । अवीतराग इति रागादिमत्त्वं साध्यम् । वक्तृत्वादिति हेतुः ।

इह व्यतिरेकमाह—

वैधर्म्योदाहरणं यत्र वीतरागत्वं नास्ति स वक्ता यथोपलखण्ड इति । यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तया सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः ।

यत्रावीतरागत्वं नास्तीति साध्याभावानुवादः । तत्र वक्तृत्वमपि

---

१ ० योगस्य, क० योगत्वस्य ।

नास्तीति साधनाभावविधिः । तेन साधनाभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तः । दृष्टान्तो यथोपलखण्डेति । कथमयमव्यतिरेको यावतोपलखण्डादुभयं निवृत्तम् । किमतो यद्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं सरागत्वं च वक्तृत्वं च तथापि व्याप्त्या व्यतिरेको यस्तस्यासिद्धेः कारणादव्यतिरेकोऽयम् । कीदृशी पुनर्व्याप्तिरित्याह । सर्वो वीतराग इति साध्याभावानुवादः । न वक्तेति साधनाभावविधिः । तेन साध्याभावः साधनाभावनियतः ख्यापितो[1] भवतीति[2] । ईदृशी व्याप्तिस्तया व्यतिरेको न सिद्धोऽस्य चार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तस्तत्स्वकार्याकरणाद्दुष्टः ।

अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति ।

अप्रदर्शितो व्यतिरेको यस्मिन् स तथोक्तः । अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वं साध्यम् । कृतकत्वादिति हेतुः । आकाशवदिति वैधर्म्येण दृष्टान्तः । इह परार्थानुमाने परस्मादर्थः प्रतिपत्तव्यः । स शुद्धोऽपि स्वतो यदि परेणाशुद्धः ख्याप्यते । स तावद्यथा प्रकाशितस्तथा न युक्तो यथा युक्तस्तथा न प्रकाशितः । प्रकाशितश्च हेतुः । अतो वक्तुरपराधादपि परार्थानुमाने हेतुर्दृष्टान्तो वा दुष्टः स्यादपि । न च सादृश्यादसादृश्याद्वा साध्यप्रतिपत्तिरपि तु साध्यनियताद्धेतोः । अतः साध्यनियतो हेतुरन्वयवाक्येन व्यतिरेकवाक्येन च वक्तव्यः । अन्यथा गमको नोक्तः स्यात् । स तथोक्तो दृष्टान्तेन[3] सिद्धो दर्शयितव्यः । तस्माद्दृष्टान्तो नामान्वव्यतिरेकवाक्यार्थप्रदर्शनः । न चेह व्यतिरेकवाक्यं प्रयुक्तम् । अतो वैधर्म्यदृष्टान्त इहासादृश्यभावेन साधक उपन्यस्तः । न च तथा साधको व्यतिरेकविषयत्वेन । स साधको न च तथोपन्यस्त इति । अतो[4]ऽप्रदर्शितव्यतिरेको वक्तुरपराधाद्दुष्टः ।

वैधर्म्येणापि विपरीतव्यतिरेको यथा—यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति ।

---

१ ख्यापितः, क० स्थापितः । २ 'इति' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते । ३ दृष्टान्तेन सिद्धः, ख० दृष्टान्तेनासिद्धः । ४ अतः, ख० अयं ।

विपरीतो व्यतिरेको यस्मिन् वैधर्म्यदृष्टान्ते स तथोक्तः । तमुदाहरति । यदकृतकमित्यादि । इहान्वयव्यतिरेकवाक्याभ्यां साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यः । यदा च साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यस्तदा व्यतिरेकवाक्ये साध्याभावः साधनाभावे नियतो दर्शयितव्यः । एवं हि हेतुः साध्यनियतो दर्शितः स्यात् । यदि तु साध्याभावः साधनाभावे नियतो नाख्यायते साधनसत्तायामपि साध्याभावः संभाव्येत[1] । तथा च साधनं साध्यनियतं न प्रतीयेत[2] । तस्मात्साध्याभावः साधनाभावे नियतो वक्तव्यः । विपरीतव्यतिरेके च साधनाभावः साध्याभावे नियत उच्यते । न साध्याभावः साधनाभावे । तथा हि । यदकृतकमिति साधनाभावमनूद्य तन्नित्यमिति साध्याभावविधिः । ततोऽयमर्थः । अकृतको नित्य एव । तथा च सत्यकृतकत्वं नित्यत्वे साध्यभावे नियतमुक्तं न नित्यत्वं साधनाभावे । ततो न साध्यनियतं हेतुं व्यतिरेकवाक्यमाह । तथा च विपरीतव्यतिरेकोऽपि वक्तुरपराधाद्दुष्टः ।

दृष्टान्तदोषानुदाहृत्य दुष्टत्वनिबन्धनत्वं दर्शयितुमाह—

न ह्येभिर्दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षणं सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा ।

न ह्येभिरिति । साध्यनियतहेतुप्रदर्शनाय[3] दृष्टान्ता वक्तव्याः । एभिश्च हेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्वमेव यत्सामान्यलक्षणं तन्निश्चयेन न शक्यं दर्शयितुम् । ननु च सामान्यलक्षणं विशेषनिष्ठमेव प्रतिपत्तव्यं न स्वत एवेत्याह । विशेषलक्षणं वा । यदि विशेषलक्षणं प्रतिपादयितुं शक्येत । स्यादेव सामान्यलक्षणप्रतिपत्तिः । विशेषलक्षणमेव तु न शक्यमेभिः प्रतिपादयितुम् ।

तदर्थापत्त्यैषां निरासो वेदितव्यः ।

तस्मादर्थापत्त्या सामर्थ्येनेति[4] तेषां निराकरणं द्रष्टव्यम् । साध्य-

---

१ ख० संभाव्यते । २ ख० प्रतीयते । ३ क० प्रदर्शनाय, ख० प्रदर्शना हि । ४ मुद्रित पुस्तके 'इति न तेषां' इति पाठोऽस्ति । किन्त्वस्माकं सम्मतौ 'न' इति पदं नात्र युज्यते ।

नियतसाधनप्रतीतये[1] उपात्ताः। तदसमर्था दुष्टाः स्वकार्यकरणादिति सामर्थ्यम्। इयता साधनमुक्तम्।

दूषणं वक्तुमाह—

दूषणा न्यूनताद्युक्तिः।

दूषणा का द्रष्टव्या। न्यूनतादीनामुक्तिरुच्यते। न येत्युक्तिर्वचनं न्यूनतादिर्वचनम्।

दूषणं विवरीतुमाह—

ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनादोषा उक्तास्तेषामुद्भावनं दूषणम्।

ये पूर्वं न्यूनतादयोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिका उक्तास्तेषामुद्भावनं यद्वचनं तद्दूषणम्।

ननु च न्यूनतादयो न विपर्ययसाधनास्तत्कथं दूषणमित्याह—

तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात्।

तेन न्यूनतादिवचनेन परेषामिष्टश्चासावर्थश्च तस्य सिद्धिर्निश्चयस्तस्याः प्रतिबन्धान्नावश्यं विपर्ययसाधनादेव दूषणं विरुद्धवदपि तु परस्याभिप्रेतनिश्चयनिबन्धान्निश्चयाभावो भवति।

निश्चयविपर्यय इत्यस्ति[2] विपर्ययसिद्धिरिति।

दूषणाभासास्तु जातयः।

उक्ता दूषणाभासा इति। दूषणवदाभासन्त[3] इति दूषणाभासाः। के ते जातयः। जातिशब्दः सादृश्यवचन उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणीति[4]। उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वादुत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि।

तदेवोत्तरसादृश्यमुत्तरस्थानप्रयुक्तत्वेन दर्शयितुमाह—

अभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति।

---

१ प्रतीतये, ख० प्रतिपत्तये। २ अस्ति, ख० अस्त्येव। ३ दूषणवत्, ख० दूषणावत्। ४ 'इति' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते।

अभूतस्यासत्यस्य दोषस्योद्भावनानि । उद्भाव्यत एतैरित्युद्भावनानि वचनानि तानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणीति ।

इति तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

कतिपयपदवस्तुव्याख्यया यन्मयाप्तं कुशलममलमिन्दोरंशुवन्न्यायविन्दोः ।
पदमजरमवाप्य ज्ञानधर्मोत्तरं यज्जगदुपकृतिमात्रव्यापृतिः स्यामतोऽहम्[1] ॥

न्यायबिन्दुः समाप्तः ।

---

[2]समाप्तेयं न्यायबिन्दुटीका कृतिराचार्यधर्मोत्तरस्य ॥०॥
सहस्रमेकं श्लोकानां तथा शतचतुष्टयम् ।
सप्तसप्ततिसंयुक्तं निपुणं परिपिण्डितम्[3] ॥

---

१ अथ श्रीधर्मोत्तराचार्यः स्वाभिप्रायप्रकाशपुरःसरं कृतिमुपसंहरन्नाह—कतिपयेति । यत् । मया धर्मोत्तराचार्येण । इन्दोश्चन्द्रस्य । अंशुवत् किरणवत् । न्यायबिन्दोः न्यायबिन्दुः नाम अस्य ग्रन्थस्य । कतिपयान्यमूनि पदानि तान्येव वस्तूनि तेषां व्याख्या तया न्यायबिन्दुटीकया इत्यर्थः । कुशलं निर्विघ्नं । अमलं निर्मलं । अजरं अनश्यम् । पदम् । अवाप्य प्राप्य । यत् । ज्ञानं च धर्मं च ज्ञानधर्मे ताभ्याम्, उत्तरं श्रेष्ठं ज्ञानधर्मोत्तरम् । अथवा अनेन पदेन आचार्येण स्वनाम 'धर्मोत्तराचार्यः' प्रदर्शितम्, आचार्यस्य ज्ञानकारणत्वात् । आप्तं प्राप्तम् । अतोऽस्मात् न्यायबिन्दुटीकारूपकार्यात् । जगतः उपकृतिरुपकारस्तन्मात्रमेव व्यापृतिः व्यापारो यस्य स । अहं धर्मोत्तराचार्यः । स्याम् । २ 'समाप्तेयं' आदि; ख० आचार्यधर्मोत्तरपादविरचितायां न्यायबिन्दुटीकायां तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः । ३ ग्रन्थस्यास्य परिमाणं १४७७ श्लोकप्रमितिमात्रमस्ति । श्लोकेऽत्र द्वात्रिंशदक्षराणि ज्ञेयानि ।

निवेदन ।

बौद्धदर्शनके प्रेमियोंके संमुख मैं न्यायबिन्दुका यह हिन्दी अनुवाद लेकर उपस्थित हो रहा हूँ। अनुवाद कैसा है यह पाठक ही बतला सकेंगे। क्योंकि मुझे इस विषयमें कहने का कुछ अधिकार नहीं है। यह अवश्य है कि इस अनुवादके करनेमें बौद्धोंके पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या करना तो दूर उनके समझनेमें भी मुझे महीनों उलझना पड़ा है। आशा है कि पाठकोंको उनमें अब विशेष न उलझना पड़ेगा।

ग्रन्थकी भाषाके लिये मुझे सबसे प्रथम क्षमा प्रार्थना करनी है। क्योंकि न्यायका कोई भी ग्रन्थ हिन्दीमें न होनेसे मुझे इसके लिये स्वयं ही ढंग सोचना पड़ा है। भाषासम्बन्धी त्रुटियाँ निकालने वालोंसे मुझे यह प्रार्थना है कि उनको जिस वाक्यमें भाषासम्बन्धी त्रुटि जान पड़े उसको प्रथम स्वयं ठीक करके ही दूसरोंको दिखलावें। ऐसा करनेसे उन्हें इस सम्बन्धमें मेरी कठिनताका बहुत कुछ आभास हो जावेगा। उचित तो यह होता कि कुछ संस्कृत न्याय तथा कुछ हिन्दी साहित्यके विद्वानोंकी एक समिति न्यायकी भाषा को निश्चित करती, किन्तु यह न होता देखकर मैंने स्वयं ही इस विषय पर लेखनी उठायी है। आशा है कि इसके लिये हिन्दी भाषाके विद्वान् मुझे क्षमा करेंगे।

यदि मूल संस्कृत ग्रन्थका शाब्दिक अनुवाद ही किया जाता तो वह किसी कामका भी न होता। अतएव वाक्य पूरा करनेके लिये मुझको दूसरे शब्द डालने पड़े हैं जो [ ] ऐसे कोष्ठकमें रखे गये हैं। भावको स्पष्ट करने वाले शब्द सादे कोष्ठकमें रखे गये हैं।

आशा है कि इस ग्रन्थसे हिन्दी साहित्यके दर्शन विभागको कुछ उत्तेजना मिलेगी।

भदैनी, बनारस
दि० २८ जून १९२४ ई० } चन्द्रशेखर शास्त्री।

बौद्ध न्यायबिन्दु

का

हिन्दी अनुवाद

अनुवादक—

काव्यसाहित्यतीर्थाचार्य श्री चन्द्रशेखर शास्त्री।

प्रथम परिच्छेदः।

सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते।

सभी पुरुषार्थोंकी सिद्धि सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है, अतएव [इस ग्रन्थमें] उसी का वर्णन किया जाता है।

द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्—

सम्यग्ज्ञान दो प्रकारका होता है—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च।

प्रत्यक्ष और अनुमान।

तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।

उनमेंसे कल्पनारहित निर्भ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना तया रहितम्।

अभिलाप (वाचकशब्द) से संसर्ग (एक ज्ञानमें अभिधेयाकारका अभिधानाकारके साथ ग्रहण करने योग्य हो जाना। जो कहा जावे उसे अभिधेय तथा कहने या नाम को अभिधान कहते हैं) के योग्य प्रतिभासकी प्रतीतिको कल्पना कहते हैं। ('वृक्ष' इस शब्दके कहते ही हृदयमें इस शब्दके संसर्ग से इस शब्दके योग्य स्कन्ध और शाखादिमान् पदार्थका प्रतिभास होने लगता है। उस पदार्थकी प्रतीतिको कल्पना कहते हैं।) प्रत्यक्षज्ञान उस कल्पनासे रहित होना चाहिये।

तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

जिस ज्ञानमें अन्धकार, [अलात आदिका] शीघ्र २ घूमना, नौकापर जाना और [वात पित्त और श्लेष्मके] संक्षोभ आदिसे विभ्रम नहीं हुआ हो ऐसा [कल्पना रहित और निर्भ्रान्त] ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है।

तच्चतुर्विधम् ।

प्रत्यक्षज्ञान चार प्रकारका होता है—

१ इन्द्रियज्ञान, २ मनोविज्ञान, ३ आत्मसंवेदन (स्वसंवेदन) और ४ योगिप्रत्यक्ष (योगिज्ञान)।

इन्द्रियज्ञानम्[1] ।

इन्द्रियोंके ज्ञानको इन्द्रियज्ञान कहते हैं।

स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तर-प्रत्ययेन जनितं तत्[1] मनोविज्ञानम् ।

अपने विषयके पश्चात्, विषयके सहकारी, समनन्तरप्रत्ययरूप इन्द्रियज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको मनोविज्ञान कहते हैं।

(बौद्ध दर्शनमें ज्ञानके ४ प्रत्यय (कारण) माने हैं । नेत्रसे घटको देखनेमें पहला कारण स्वयं घट है । अतएव विषय होनेसे इसको आलम्बन प्रत्यय कहते हैं। दूसरा कारण आलोक है । क्योंकि उसकी सहायताके बिना इन्द्रियाँ किसी विषयको ग्रहण नहीं कर सकतीं । अतएव उसको सहकारी प्रत्यय कहते हैं । तीसरा कारण इन्द्रियाँ हैं उनको अधिपतिप्रत्यय कहते हैं । और चौथा कारण ग्रहण करने अथवा विचार करनेकी वह शक्ति है जिसका उपयोग न होने से हम प्रायः देखते हुए भी नहीं देख सकते, शब्द होते हुए भी नहीं सुन सकते । बौद्धेतर दर्शनोंकी अपेक्षा इसको मन कहना उपयुक्त होगा । इसको समनन्तरप्रत्यय कहते हैं।)

सर्व[2]चित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम् ।

सभी चित्त (अर्थमात्रको ग्रहण करने वाले) और चैत्तों (विशेष अवस्थाको ग्रहण करने वाले सुख आदि) का आत्माको प्रकट करना आत्मसंवेदन है।

(बाह्यार्थास्तित्ववादी बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके दो भेद हैं—बाह्य और आन्तर। बाह्यके फिर दो भेद हैं-भूत और भौतिक। आन्तरके भी दो भेद हैं-चित्त और चैत्त। चैत्तको चैत्तिक भी कहते हैं। भूत पृथ्वी आदि चार परमाणु हैं। भौतिक रूप आदि और चक्षु आदि हैं । चित्त विज्ञान है। चैत्तिक रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार संज्ञा वाले पाँच स्कन्ध हैं । विज्ञानके फिर दो भेद हैं-आलयविज्ञान जो 'अहं' या 'मैं' इस आकारका है । प्रवृत्तिविज्ञान इन्द्रिय आदिसे उत्पन्न होता है और रूप आदिको विषय करता है।)

---

१. पीटर्सन साहब की पुस्तक में विरामचिह्न 'इन्द्रियज्ञानम्' के पश्चात् न देकर अगले वाक्य में 'तत्' के पश्चात् दिया गया है। जिससे 'स्वविषय' आदिके इन्द्रियज्ञान का लक्षण होने का भ्रम होता है।

२. पहिली पुस्तक का पाठ 'सर्वं चित्त-' आदि है। किन्तु वह अशुद्ध है।

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।

सद्भूत अर्थके प्रकर्ष तक होने वाले ज्ञानको योगिज्ञान कहते हैं । (योगिप्रत्यक्ष सद्भूत अर्थका ही हो सकता है । असद्भूतका नहीं हो सकता, और वह भी थोड़ा बहुत नहीं होता किन्तु प्रकर्ष अर्थात् चरम सीमा तक होता है ।)

तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।

प्रत्यक्षका विषय स्वलक्षण है । [जो कि क्षण है ।]

यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणम्, तदेव परमार्थसत्, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः ।

जिस विषयकी समीपता और असमीपतासे ज्ञानके प्रतिभासमें भेद हो वह स्वलक्षण है । और वही परमार्थ सत् है । क्योंकि वही वस्तुमें अर्थक्रिया कराता है ।

अन्यत्सामान्यलक्षणम्, सोऽनुमानस्य विषयः ।

स्वलक्षणसे भिन्न सामान्यलक्षण होता है । वह अनुमानका विषय होता है ।

तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।

वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही अर्थ प्रतीतिरूप होनेसे प्रमाणका फल है ।

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं, तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ।

इस ज्ञानका अर्थके समान बन जाना प्रमाण है । क्योंकि उसीसे अर्थकी प्रतीतिकी सिद्धि होती है ।

इति प्रथम परिच्छेद ।

द्वितीय परिच्छेद ।

अनुमानं द्विधा—

अनुमान दो प्रकारका होता है—

स्वार्थं परार्थं च ।

स्वार्थ और परार्थ ।

तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ।

त्रिरूपलिङ्ग से होने वाले अनुमेयके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं ।

प्रमाणफलव्यवस्थाऽत्रापि प्रत्यक्षवत् ।

प्रमाणके फलकी व्यवस्था यहां भी प्रत्यक्षके ही समान है ।

त्रैरूप्यम् पुनः—

लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव,

सपक्ष एव सत्त्वम्,

असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।

त्रैरूप्य (त्रिरूपलिङ्ग) यह है—

(१) अनुमेयमें लिङ्गकी विद्यमानता—

(लिङ्ग शब्दका अर्थ चिह्न है । जैसे—दूरसे देखनेवालेके लिये अग्निका चिह्न या लिङ्ग धूम है । धूम ही हेतु है । इसको धर्म भी कहते हैं ।)

(२) लिङ्गका सपक्षमें अवश्य रहना । और

(३) लिङ्गका विपक्षमें किसी अवस्थामें भी न रहना ।

अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी ।

जिस धर्मीको अनुमानके द्वारा जाननेकी इच्छा की जाती हैउसे अनुमेय कहते हैं ।

(जिस गुण या लक्षणको दिखला कर वस्तु (अनुमेय) सिद्ध की जाती है उसे धर्म कहते हैं । जिस वस्तु (अनुमेय) में वह धर्म रहे उसे धर्मी कहते हैं । जिसे सिद्ध किया जावे उसे साध्य कहते हैं ।)

साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः ।

जो पदार्थ साध्यधर्मके समान हो उसे सपक्ष कहते हैं ।

(बौद्धग्रन्थों में 'धर्म' शब्द के चार अर्थों में चार प्रयोग मिलते हैं—

(१) Scriptural Texts या मूल धार्मिक पुस्तकें ।

(२) Quality या गुण ।

(३) Cause या हेतु । और

(४) Unsubstantial and Soulles या निःसत्त्व और निर्जीव। इस को पाली में 'निसत्त निज्जीव' कहते हैं। हमारी सम्मति में न्यायबिन्दु के समासों में 'धर्म' शब्द का तीसरे अर्थ में प्रयोग किया गया है।)

न सपक्षोऽसपक्षः ।

जो सपक्ष नहीं होता उसे विपक्ष या असपक्ष कहते हैं।

ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति ।

जो वस्तु सपक्षसे भिन्न हो या सपक्षके विरुद्ध हो अथवा जिसमें सपक्षका अभाव हो वह असपक्ष होती है।

त्रिरूपाणि च ॥

[ऊपर कहे हुए] त्रिरूप हैं।

त्रीण्येव च लिङ्गानि—

अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति ।

लिङ्ग भी तीन ही होते हैं—

अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य।

तत्रानुपलब्धिर्यथा-न प्रदेशविशेषे क्वचिद्घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।

उनमें से अनुपलब्धि इस प्रकार है—

जैसे-कसी विशेष स्थान में घट नहीं है। क्योंकि घटके उपलब्धिलक्षणप्राप्त होने परभी उसकी वहां अनुपलब्धि है।

(घट स्वभावसे ही विद्यमान है। अर्थात् घटके अस्तित्वमें स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कारण नहीं है। अतएव घट उपलब्धि (मिलना) लक्षण वाला है। घटमें उपलब्धिलक्षण है अतएव वह उपलब्धिलक्षणप्राप्त है। घटका उपलब्धिलक्षणप्राप्तपना उसकी उपलब्धिलक्षणप्राप्ति है। अनुपलब्धि न मिलनेको कहते हैं।)

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ।

उपलब्धिलक्षणप्राप्ति उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्य और स्वभावविशेष [यह तीनों एकही हैं।] (पीछे उपलब्धिके चार प्रत्यय बतला दिये हैं। यहाँ प्रत्ययान्तर शब्द आलम्बनप्रत्ययके अतिरिक्त अन्य प्रत्ययोंका वाचक है। साकल्य सम्पूर्णताको कहते हैं। उपलम्भके प्रत्ययान्तरोंकी एकत्रित सम्पूर्णताको उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्य कहते हैं।)

यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु यत्प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः ।

[आलम्बनप्रत्ययके अतिरिक्त] शेष उपलम्भप्रत्ययोंके रहते हुए जो स्वभावसे प्रत्यक्ष होता है वह स्वभाव है । (यह स्वभाव विशेषकी परिभाषा है ।)

स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः ।

यथा—वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति ।

[जो पदार्थ अपने हेतुके अस्तित्वकी अपेक्षाकरके विद्यमान होता है और हेतु-सत्तासे भिन्न अन्य किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं करता वह स्वसत्तामात्रभावी साध्य है ।] उस स्वसत्तामात्रभावी साध्यधर्ममें जो हेतु है वह स्वभाव हेतु है ।

जैसे-यह वृक्ष है, क्योंकि यह शीशम है ।

कार्यं यथाग्निरत्र धूमादिति ।

कार्यका उदाहरण—

जैसे-यहाँपर अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम है ।

अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ[१], एकः प्रतिषेधहेतुः ।

इन तीन हेतुओंमें (अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्यमें) से दो हेतु (स्वभाव और कार्य) वस्तुकी विधिको बतलाते हैं । और एक (अनुपलब्धि) प्रतिषेधको बतलाता है ।

स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत् ।

स्वभावप्रतिबन्ध (स्वभावसे एक स्थानमें नियत होना) होने पर ही साधन अर्थ साध्य अर्थको बतलाता है । [इस कारणसे यह तीन ही साध्यको सिद्ध कर सकते हैं अन्य नहीं]

तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ।

क्योंकि जो जहाँ पर स्वभावसे प्रतिबद्ध नहीं होता उसका अप्रतिबद्धविषयमें अव्यभिचार के नियमका अभाव होता है । [अतएव स्वभावसे अप्रतिबद्धोंमें अव्यभिचारनियम अथवा अविनाभावनियम नहीं बन सकता । गम्यगमकभाव अव्यभिचार-नियम से ही होता है । लिङ्ग योग्यतासे दीपकके समान परोक्ष अर्थको प्रकाशित करनेका निमित्त भी नहीं माना जा सकता । विरुद्ध इसके वह अव्यभिचारीपने से ही निश्चय किया जाता है । अतएव स्वभावप्रतिबन्ध होने पर ही अविनाभाव का निश्चय होता है । और गम्यगमकभाव अविनाभावसे ही होता है । अतएव स्वभावप्रतिबन्ध होने पर ही अर्थ अर्थको बतलाता है अन्य प्रकार से नहीं बतलाता ।]

---

१. पूर्व छपी पुस्तक में विराम चिह्न '-साधनौ' के पाश्चात् है । 'प्रतिषेधहेतुः' के पश्चात् कोई चिह्न न देकर उसे अगले वाक्य में मिला दिया है, जिससे अर्थ बिलकुल गड़बड़ा जाता है ।

स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतंस्ता-
दात्म्यात्साध्यार्थादुत्पत्तेश्च ।

स्वभावप्रतिबन्ध साध्य अर्थमें लिङ्गका होता है। (पराधीन होने से लिङ्ग प्रतिबद्ध होता है। साध्य अर्थ पराधीन न होनेसे प्रतिबन्धका विषय अथवा प्रतिबन्धविषय होता है किन्तु प्रतिबद्ध नहीं होता)। क्योंकि वास्तव में साध्य और लिङ्गका तादात्म्य है और साध्य अर्थसे लिङ्गकी उत्पत्ति होती है। (अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे ही स्वभावप्रतिबन्ध होता है)

अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ।

क्योंकि जिसका वह स्वभाव न हो तथा जिसकी उससे उत्पत्ति न हो उसमें प्रतिबद्धस्वभावता नहीं होती है।

ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति[२]
ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।

तादात्म्य और तदुत्पत्ति स्वभाव और कार्य में ही होती हैं। अतएव कार्य और स्वभावसे ही वस्तुकी (अथवा विधिकी) सिद्धि होती है।

प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः ।
सति वस्तुनि तस्या असंभवात् ।

प्रतिषेध व्यवहार की सिद्धि भी पूर्वोक्त दृश्यानुपलब्धि से ही होती है। [क्योंकि प्रतिषेध्य] वस्तुके विद्यमान होनेपर दृश्यानुपलब्धि नहीं हो सकती।

अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्र-
कृष्टेष्वात्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् ।

अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त (जिसकी उपलब्धिका कोई कारणविशेष उपस्थित नहीं है) देशकालस्वभावविप्रकृष्ट पदार्थोंका आत्मप्रत्यक्ष न हो सकनेसे उनका अभाव नहीं कह सकते। (देशविप्रकृष्ट–जैसे भारतसे अमेरिका। कालविप्रकृष्ट–जैसे–भूतकालमें रामचन्द्र। स्वभावविप्रकृष्ट–जैसे–मदारीका अपने मुखमें से अग्नि निकालना)

[अदृश्यानुपलब्धि वस्तुके विद्यमान होते हुए भी ही हो सकती है। जिसप्रकार अन्धेको सब वस्तुएँ अदृश्य होनेसे अनुपलब्ध हैं। अतएव प्रतिषेध सिद्धि अदृश्यानुपलब्धिसे न होकर दृश्यानुपलब्धिसे ही होती है।]

अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृ-
प्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारसाधनी ।
तस्या एवाभावनिश्चयात् ।

---

१. पूर्वपुस्तक में 'वस्तुतः' यह पाठ है। किन्तु हमारी सम्मति में वह अशुद्ध है।
२. पूर्वपुस्तक में 'इति' के पश्चात् विराम दे दिया है।

यह दृश्यानुपलब्धि जानने वालेके पूर्व अनुभूतप्रत्यक्ष (जिस प्रत्यक्ष ज्ञानका उसके द्वारा पहिले अनुभव किया जा चुका है) और वर्तमानकालके प्रत्यक्षकी निवृत्तिके अभावके व्यवहारको बतलाने वाली है।

क्योंकि अतीत और वर्तमानकालीन अनुपलब्धि ही अभावको निश्चय करती है।

सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।

अनुपलब्धि प्रयोगके भेदसे ग्यारह प्रकारकी होती है—

स्वभावानुपलब्धिर्यथा । नात्र धूमः उपलब्धि-लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।

स्वभावानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके स्वभावकी अनुपलब्धि)—

जैसे—यहां धूम नहीं है, क्योंकि वह उपलब्धिलक्षणप्राप्त होने पर भी अनुपलब्ध है ॥ १ ॥

कार्यानुपलब्धिर्यथा । नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूम-कारणानि सन्ति धूमाभावात् ।

कार्यानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके कार्यकी अनुपलब्धि)—

जैसे-यहां अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाले (जिस धूमकी गतिकी सामर्थ्य रुकी न हो) धूमके कारण नहीं हैं, क्योंकि यहां धूमका अभाव है ॥ २ ॥

व्यापकानुपलब्धिर्यथा । नात्र शिंशपा वृक्षाभावादिति ।

व्यापकानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके व्याप्यके व्यापक धर्मकी अनुपलब्धि)—

जैसे-यहां शिंशपा (शीशमका वृक्ष) नहीं है, क्योंकि इस स्थानमें वृक्षका अभाव है ॥ ३ ॥

स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति ।

स्वभावविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके स्वभावसे विरुद्धकी उपलब्धि)—

जैसे-यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि यहाँ अग्नि है ॥ ४ ॥

विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा । नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति ।

विरुद्धकार्योपलब्धि (प्रतिषेध्यसे विरुद्ध कार्य की उपलब्धि)—

जैसे—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि यहां धुआं है ॥ ५ ॥

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा । न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो हेत्वन्तरापेक्षणादिति ।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धि (प्रतिषेध्यके विरुद्धसे व्याप्त धर्मान्तर कीउ पलब्धि)—

जैसे—उत्पन्न हुई वस्तुका भी नाश अवश्यंभावी नहीं है (अनुत्पन्नका तो कैसे कह सकते हैं), क्योंकि वह हेत्वन्तर की अपेक्षा रखती है ॥ ६ ॥

कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्त्यग्नेरिति ।

कार्यविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके कार्यके विरुद्धकी उपलब्धि)—

जैसे—यहां पर अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले शीतके कारण नहीं हैं; क्योंकि यहां अग्नि है ॥ ७ ॥

व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा। नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति।

व्यापकविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके व्यापकसे विरुद्धकी उपलब्धि)—

जैसे—यहां तुषारका स्पर्श नहीं है; क्योंकि यहां अग्नि है ॥ ८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा। नात्र धूमोऽग्न्यभावादिति।

कारणानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके कारणकी अनुपलब्धि)—

जैसे—यहां पर धूम नहीं है; क्योंकि यहाँ अग्निका अभाव है ॥ ९ ॥

कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा। नास्य रोमहर्षादिविशेषाः संनिहितदहनविशेषत्वादिति।

कारणविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके कारणके विरुद्धकी उपलब्धि)—

जैसे—इस पुरुषको रोमहर्ष आदि नहीं हो रहे हैं; क्योंकि उसके पास अग्नि-विशेष है ॥ १० ॥

कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा। न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमादिति।

कारणविरुद्धकार्योपलब्धि (प्रतिषेध्यकारणके विरुद्धके कार्यकी उपलब्धि)—

जैसे—इस प्रदेशमें रोमहर्ष आदिसे युक्त पुरुष नहीं है; क्योंकि यहां धूम है ॥११॥

इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति।

ये सब कार्यानुपलब्धि आदि दश अनुपलब्धिके प्रयोग स्वभावानुपलब्धिमें ही आ जाते हैं।

पारम्पर्येणार्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेदेऽपि प्रयोगदर्शनाभ्यासात्स्वयमप्येवं व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवतीति स्वार्थेऽप्यनुमानेऽस्याः प्रयोगनिर्देशः।

[कार्यानुपलब्धि आदिमें यद्यपि] अर्थान्तरसे विधि और प्रतिषेधसे प्रयोगभेद है तथापि परम्परासे [स्वभावानुपलब्धिमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। हम लोगोंको इन] प्रयोगोंको देखनेके अभ्याससे स्वयं ही व्यवच्छेद (प्रतिषेध) की प्रतीति होती है। इसी लिये इनका प्रयोग स्वार्थानुमानमें भी किया गया है।

सर्वत्र चास्यामभावव्यवहारसाधन्यामनुपलब्धौ येषां स्वभावविरुद्धादीनामुपलब्ध्या कारणादीनामनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्त-

एतेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानामेवोपलब्धिरनुपलब्धिश्च वेदितव्या। अन्येषां विरोधकार्यकारणभावासिद्धिः।

इस अभाव और अभावको साधन करने वाली अनुपलब्धिमें जिन स्वभावविरुद्ध आदिकोंकी उपलब्धि और कारणादिकोंकी अनुपलब्धिसे प्रतिषेध कहा गया है उन्हीं उपलब्धिलक्षणप्राप्तोंकी उपलब्धि और अनुपलब्धि जाननी चाहिये। क्योंकि दूसरोंके विरोध और कार्यकारणभावकी सिद्धि नहीं हो सकती।

विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्ति-लक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेरिति।

संशयके कारण विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि (अदृश्यानुपलब्धि) प्रत्यक्ष अनुमानकी निवृत्ति (उसमें प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंकी गति नहीं है) लक्षण वाली है। (ज्ञानज्ञेयस्वभाव वाली है)। क्योंकि प्रमाणकी निवृत्ति होनेपर भी अर्थका अभाव असिद्ध ही है।

इति द्वितीय परिच्छेद।

तृतीय परिच्छेद

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् ।

त्रिरूपलिङ्गका कहना परार्थानुमान है ।

कारणे कार्योपचारात् ।

क्योंकि यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया जाता है ।

(त्रिरूपलिङ्ग के कहने से त्रिरूपलिङ्गकी स्मृति उत्पन्न होती है । स्मृति से अनुमान होता है । अतएव त्रिरूपलिङ्ग का कहना अनुमान का परम्परासे कारण है । उस कारणवचनमें कार्यानुमान का उपचार (समारोप) किया जाता है ।

सहकारी आदि होनेके कारणसे अतद्भाव (जो उस स्वरूप न हो) में तद्वत् (उसी स्वरूप के समान) के कहनेको उपचार कहते हैं ।)

तद् द्विविधं प्रयोगभेदात् ।

परार्थानुमान के प्रयोग के भेद से दो भेद होते हैं—

साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्चेति ।

साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् ।

नानयोरर्थतः कश्चिद् भेदोऽन्यत्र प्रयोगभेदात् ।

इन दोनोंमें भेद केवल प्रयोगसे ही है अर्थ से कुछ भी नहीं है ।

तत्र साधर्म्यवद्यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः ।

उसमें से साधर्म्यवत्—

जो उपलब्धिलक्षणप्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता वह असद्व्यवहारका विषय होता है (अर्थात् उसका अभाव होता है) । यह सिद्ध है ।

यथान्यः कश्चिद् दृष्टः शशविषाणादिः[1] ।

जैसे खरहे के सींग आदि कोई अन्य (साध्यधर्मी से) दृष्ट (प्रमाण से निश्चित) है ।

नोपलभ्यते च क्वचित्प्रदेशविशेष उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इति ।

[दृश्यानुपलम्भके पक्षधर्मत्वको दिखलाते हुए कहते हैं—]

किसी प्रदेशविशेष में उपलब्धिलक्षणप्राप्त घट उपलब्ध नहीं होता ।

तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः—

यत्सत्तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति ।

---

१. पीटर्सन संस्करण में 'शशविषाणादि' के पश्चात् विरामचिह्न न देकर उसे अगले वाक्य में मिलाकर '-विषाणादिर्नोप०-' कर दिया है ।

तथा स्वभावहेतुका प्रयोग—

जो सत् होता है वह सब अनित्य होता है। जैसे-घट आदि।

शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः—

यदुत्पत्तिमत्तदनित्यमिति ।

शुद्ध स्वभावहेतु का प्रयोग—

जो उत्पत्तिमान् होता है वह अनित्य होता है। (यह अव्यतिरिक्तविशेषणवाला प्रयोग है।)

स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः—

यत्कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन ।

स्वभावभूतधर्मके भेद से स्वभाव का प्रयोग—

जो कृतक होता है वह अनित्य होता है।

इस प्रकार उपाधिके भेदसे [स्वभावहेतु का प्रयोग कहा।]

अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।

जो वस्तु अपने स्वभावकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) में दूसरी वस्तु के व्यापारकी आवश्यकता रखे उसे कृतक कहते हैं।

एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः ।

उसी प्रकार प्रत्ययभेदिभेदित्व प्रयत्ननान्तरीयकत्व आदि भी समझ लेने चाहिये। (जिसमें प्रत्यय अथवा कारणके भेदसे भेद निकाला जा सके उसे प्रत्ययभेदभेदी कहते हैं। नान्तरीयक व्याप्तको कहते हैं। अर्थात् जो जिसके रहने पर रहे और न रहने पर न रहे उसे उससे व्याप्त या नान्तरीयक कहते हैं। जैसे सूर्य के होने पर मैदान में प्रकाश अवश्य होता है और उसके न होने पर नहीं होता। जो प्रयत्नसे व्याप्त होता है वह अनित्य होता है। जो प्रत्ययभेदभेदी होता है वह कृतक होता है।)

सन्नुत्पत्तिमान्कृतको वा शब्द इति पक्षधर्मोपदर्शनम्[१] ।

अथवा शब्द सत् उत्पत्तिमान् और कृतक है। इस प्रकार पक्ष धर्म को दिखला दिया।

(धर्मी को पक्ष भी कहते हैं। यहाँ धर्मीशब्दमें पक्षके धर्म सत्त्व, उत्पत्तिमत्त्व और कृतकत्व दिखलाये हैं। उनमें से सत्त्व वस्तु से बिलकुल अपृथक् होने से शुद्ध विशेषण है। उत्पत्तिमत्त्व से प्रगट होता है कि वस्तुमें उसके अन्दर ही अन्दर कुछ परिवर्तन हुआ है। अतएव यह अव्यतिरिक्तविशेषण है। कृतकत्वसे प्रगट होता है कि करने वाला स्वयं वस्तुसे भिन्न है। अतः यह व्यतिरिक्त विशेषण है।)

(शङ्का) यह स्वभावहेतु सिद्धसम्बन्ध स्वभावके साध्यमें प्रयोग किये जाने चाहिये अथवा असिद्धसम्बन्धके ?

---

१. पीटर्सन संस्करण में यहाँ भी विराम न देकर इसको अगले वाक्य में मिला दिया है।

(उत्तर) सिद्धसम्बन्धमें प्रयोग किये जाने चाहिये। (यही दिखलाते हुए कहते हैं)

सर्व एते साधनधर्मा यथास्वं प्रमाणैः सिद्धसाधनधर्म-मात्रानुबन्ध एव साध्यधर्मेऽवगन्तव्याः।

यह स्वभावहेतु (साधनधर्म) निश्चितसाधनधर्ममात्रानुबन्धिसाधनधर्ममें ही प्रयोग किये जाने चाहिये। अन्यत्र नहीं।

(गमक होनेसे साधन और पराश्रित होनेसे धर्म कहा जाता है। साधन धर्म-मात्रसे अभिप्राय केवल साधनधर्मसे ही है। अनुबन्ध अन्वयव्याप्तिको कहते हैं। जैसे—धूम पावकानुबन्धि (अनुबन्धि-अनुबन्धवाला) है। जो अपने अनुरूप प्रमाणोंसे सिद्ध हो उसको यहाँ निश्चित कहा है। अतएव स्वभावहेतुका प्रयोग ऐसे निश्चितसाधनधर्ममात्रको अनुबन्ध करने वाले साधनधर्ममें ही किया जाना चाहिये।)

तत्स्वभावत्वात्स्वभावस्य च हेतुत्वात्।

[क्योंकि जो साध्यधर्म साधनधर्ममात्रानुबन्धि है] वह ही उस साधनधर्मका स्वभाव है। और स्वभाव ही हेतु है।

[यद्यपि साध्यधर्म साधनका स्वभाव होता है, तथा साधन हेतु होता है तथापि साधन प्रतिज्ञार्थैकदेशहेतु नहीं है।]

(धर्म और धर्मी के समुदायको प्रतिज्ञा कहते हैं। एकदेश एक भाग को कहते हैं। यदि प्रतिज्ञा (धर्म और धर्मी) के ही किसी भाग को (धर्म या धर्मी को) हेतु बनाया जावेगा तो वह प्रयोग साध्यको सिद्ध न कर सकनेके कारणसे हेतु का एकदोष हो जाता है। जैसे—'अग्नि उष्ण है; क्योंकि वह उष्ण है' में 'उष्णत्व' हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशहेतु है।)

वस्तुतस्तयोस्तादात्म्यात्तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत्स्वभा-वत्वाभावाद् व्यभिचारसंभवाच्च।

क्योंकि वास्तवमें साध्य और साधन का तादात्म्य होता है। और जो तन्निष्पत्तिमें अनिष्पन्न है (जो जिसका नियमसे कारण नहीं होता वह तन्निष्पत्ति (उसकी उत्पत्ति) में अनिष्पन्न (उत्पन्न न होने वाला) होता है) वह उस स्वभाववाला नहीं होता और उसमें व्यभिचार भी आता है।

कार्यहेतोरपि प्रयोगः। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसादा-वस्ति चेह धूम इति। इहापि सिद्ध एव।

कार्यहेतु का प्रयोग—

जहाँपर धूम होता है वहां अग्नि होती है; जैसे पाकशाला आदिमें। उसी प्रकार यहाँ भी धूम है। इस लिये यहाँ भी अग्नि सिद्ध ही है।

कार्यकारणभावे कारणे साध्ये कार्यहेतुर्वक्तव्यः।

कार्यकारणभावमें कारणके साध्य होनेपर कार्यको हेतु कहना चाहिये।

वैधर्म्यवतः प्रयोगो यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एव । यथा नीलादिविशेषः । न चैवमिहोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येत्यनुपलब्धिप्रयोगः ।

वैधर्म्यवत् का प्रयोग—

जो सत् और उपलब्धिलक्षणप्राप्त होता है वह अवश्य उपलब्ध होता है। जैसे—नील आदि विशेष । उसी प्रकार यहाँ उपलब्धिलक्षणप्राप्त सत् घटकी उपलब्धि नहीं है। अतएव यह अनुपलब्धि प्रयोग है।

असत्यनित्यत्वे नास्ति सत्त्वमुत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्वं वा ।
असच्च शब्द उत्पत्तिमान्कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः ।

[स्वभावहेतुके वैधर्म्यप्रयोगको कहते हैं—]

अनित्यत्व (साध्य) का अभाव होने पर भी सत्त्व, उत्पत्तिमत्त्व अथवा कृतकत्व नहीं हो सकते। शब्द असत् होते हुए भी उत्पत्तिमान् तथा कृतक होता है, यह स्वभावहेतु का प्रयोग है।

असत्यग्नौ न भवत्येव धूमोऽत्र चास्तीति कार्यहेतोः प्रयोगः ।

अग्नि के न होने पर धूम भी नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ है। (अर्थात् अग्निके न होनेसे धूम नहीं है)। यह कार्यहेतु का प्रयोग है।

साधर्म्येणापि हि प्रयोगेऽर्थाद्वैधर्म्यगतिरिति । असति तस्मिन्साध्येन[1] हेतोरन्वयाभावात् ।

साधर्म्य (अन्वय) के प्रयोगसे वैधर्म्य (व्यतिरेक) अर्थात् ही आ जाता है। क्योंकि व्यतिरेकके अभावमें हेतुका साध्यसे अन्वय न हो सकेगा।

(व्याप्तिके दो भेद हैं। एक अन्वयव्याप्ति, दूसरी व्यतिरेकव्याप्ति । एकके होने पर दूसरे का नियमसे होना अन्वय है। जैसे—धूमके सद्भावमें अग्निका सद्भाव अवश्य होनेके कारण धूमका अग्निके साथ अन्वय है। एकके न होने पर दूसरेका भी नियमसे न होना व्यतिरेक है। जैसे—अग्निके अभावमें धूम का अभाव।

तथा वैधर्म्येणाप्यन्वयगतिः । असति तस्मिन्साध्या-[2]भावे हेत्वभावस्यासिद्धेः ।

उसी प्रकार वैधर्म्य (व्यतिरेक) से भी अन्वय स्वयं ही आ जाता है। क्योंकि अन्वयके न होनेपर साध्यके अभावमें हेतुका अभाव भी सिद्ध न होगा।

---

१. पीटर्सन संस्करण में 'साध्ये न' पाठ है। संस्कृत टीका में भी यही कर दिया गया है। किन्तु विचार करने से यह पाठ रखने पर अर्थ उलटा हो जाता है।

२. पीटर्सन संस्करण में 'साध्यभावे' पाठ है। संस्कृत टीकामें भी यही कर दिया गया है। किन्तु विचार करने से यह पाठ रखने पर अर्थ उलटा हो जाता है।

**न हि स्वभावप्रतिबन्धे सत्येकस्य निवृत्तावप-
रस्य नियमेन निवृत्तिः ।**

स्वभावप्रतिबन्धके होनेपर एककी निवृत्तिमें दूसरेकी निवृत्ति नियमसे नहीं होती ।

**स च द्विप्रकारः । सर्वस्य तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्ति-
लक्षणश्चेत्युक्तम् ।**

वह स्वभावप्रतिबन्ध (सब प्रतिबद्धका) दो प्रकार्का होता है—
तादात्म्यलक्षण और तदुत्पत्तिलक्षण ।

तेन हि निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः ।

[स्वभावप्रतिबन्ध होनेपर निवर्त्यनिवर्तकभावके होनेके कारण से] [वह साध्यकी निवृत्तिमें साधनकी] निवृत्तिको कहनेवाले [निवर्त्यनिवर्तकमें] प्रतिबन्धको देखे ।

तस्मान्निवृत्तिवचनमाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनमेव भवति ।

[साधनके साध्यमें प्रतिबद्ध होनेसे साध्यकी निवृत्ति होनेपर साधनकी निवृत्ति भी हो जाती है] अतएव [साध्यकी निवृत्तिमें साधनकी] निवृत्तिका कहना उस प्रतिबन्धका दिखलाना ही हो जाता है ।

यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनमित्येकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षासपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यवाक्यद्वयप्रयोगः ।

और वह प्रतिबन्धोपदर्शन ही (प्रतिबन्ध का दिखलाना ही) अन्वयवचन है । इस प्रकार प्रयोग किये हुए एक ही अन्वयमुख अथवा व्यतिरेकमुख वाक्यसे सपक्षमें लिङ्गका सत्त्व अथवा असत्त्व कहा जाता है । इस प्रकार दो वाक्योंके प्रयोगकी कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

अनुपलब्धावपि यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेत्युक्तेऽनुपलभ्यमानं तादृशमसदिति प्रतीतेरन्वयसिद्धिः ।

अनुपलब्धिमें भी 'जो उपलब्धिलक्षणप्राप्त है वह उपलब्ध होता ही है' ऐसा कहने पर उसी प्रकारका 'अनुपलभ्यमान (न मिलनेवाला) पदार्थ असत् है' ऐसी प्रतीति हो जानेसे अन्वयकी सिद्धि हो जाती है ।

द्वयोरप्यनयोः प्रयोगेऽवश्यं पक्षनिर्देशः ।

इन दोनों प्रयोगोंमें पक्षका निर्देश (कहना) अवश्य होना चाहिये ।

**यस्मात्साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं
सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः ।**

क्योंकि साधर्म्यवत् प्रयोगमें भी जो उपलब्धिलक्षणप्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता वह असत् व्यवहारका विषय है ।

नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति ।

'यहां उपलब्धिलक्षणप्राप्त घट नहीं है' ऐसा कहनेपर 'यहां घट नहीं है' यह सामर्थ्यसे ही आ जाता है ।

तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि 'यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धिलक्षणप्राप्तः स उपलभ्यत एव, न तथात्र तादृशो घट उपलभ्यत' इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति ।

उसी प्रकार वैधर्म्यवत् प्रयोगमें भी 'जो सद्व्यवहारका विषय और उपलब्धिलक्षणप्राप्त है वह उपलब्ध होता ही है इसी प्रकार यहां वैसा घट उपलब्ध नहीं है' यह कहनेपर सामर्थ्यसे ही 'यहां पर घट सद्व्यवहारका विषय नहीं है' यह हो जाता है ।

कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्दिश्यः ।

'अब पक्ष कैसा होता है' यह कहा जाता है।

स्वरूपेणैव स्वयमिष्टो[1]ऽनिराकृतः पक्ष इति ।

जो स्वरूपसे ही स्वयं इष्ट और अनिराकृत हो उसे पक्ष कहते हैं ।

स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः । स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनेष्टो न साधनत्वेनापि ।

यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः ।

'स्वरूपसे इष्ट' शब्दसे पक्षको साध्य बतलाया है । स्वरूपसे ही साध्यरूपसे ही माना गया है साधनरूपसे भी नहीं माना गया ।

जैसे—शब्दकी अनित्यताको साध्य करनेमें चाक्षुषत्व (नेत्रसे उत्पन्न होना) हेतु देना ।

शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यं न पुनस्तदिह साध्यत्वेनैवेष्टं साधनत्वेनाप्यभिधानात् ।

वह शब्दमें असिद्ध होनेसे साध्य है । उसको यहां केवल साध्य ही नहीं माना है । क्योंकि उसे साधन भी कहा है ।

'स्वयं इस पदका समर्थन—

स्वयमिति वादिना यस्तदा साधनमाह । एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः[2] साधनमाह । तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति ।

---

१. पीटर्सन संस्करण का 'निराकृतः' पाठ अशुद्ध है ।

२. पीटर्सन संस्करण का 'स्थितसाधनमाह' पाठ हमारी सम्मति में अशुद्ध है ।

जो स्वयं वादीसे माना गया हो [पक्ष वही होगा] (जो वादके समयमें साधनको कहे उसे वादी कहते हैं) इससे यद्यपि वादी किसी शास्त्रमें स्थिर रहकर साधनको कहता है [तथापि] उस शास्त्रकारके उस धर्मीमें माने हुए अनेक धर्मीमें से भी वादी जिस धर्मको साधना चाहे वही साध्य होता है, अन्य नहीं ।

'इष्ट' पदकी सार्थकता—

इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यस्तदधिकरणत्वाद्विवादस्य ।

वादीने विवादके द्वारा सिद्ध करनेकी इच्छा रखते हुए जिस अर्थमें साधन दिया है वह अर्थ वचनसे न कहा जानेपर भी साध्य है, क्योंकि विवादका अधिकरण वही है ।

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति । अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थतानेनोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति ।

जैसे—चक्षु आदि पदार्थ (दूसरेके लिये) हैं । क्योंकि वह शयन, आसन आदि अङ्गोंके समान संघातरूप हैं । यहां पर 'आत्मार्थ (आत्माके लिये)' यह न कहे जानेपर भी तात्पर्यसे निकलने वाली आत्मार्थता ही साध्य है, ऐसा कहा जाता है ।

'अनिराकृत' इस पदका समर्थन—

अनिराकृत इति । एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्[1] ।

जिस अर्थको सिद्ध करना चाहते हैं उसमें उपर्युक्त सब लक्षणोंके होनेपर भी यदि वह प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति और स्ववचनसे निराकृत (निराकरण किया हुआ) हो तो वह पक्ष नहीं हो सकता । [अनिराकृत पद] यह दिखलानेके लिये दिया गया है ।

तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा—अश्रावणः शब्द इति ।

प्रत्यक्षनिराकृत (जिसका प्रत्यक्ष प्रमाणसे निराकरण किया जावे)—

जैसे—शब्द कर्ण इन्द्रियका विषय नहीं है ।

अनुमाननिराकृतो यथा—नित्यः शब्द इति ।

अनुमाननिराकृत—

जैसे—शब्द नित्य है ।

प्रतीतिनिराकृतो यथा—अचन्द्रः शशीति ।

प्रतीतिनिराकृत—

जैसे—शशी चन्द्रशब्दका वाच्य नहीं है ।

स्ववचननिराकृतो यथा—नानुमानं प्रमाणम् ।

---

१. पीटर्सन संस्करण में यहाँ विराम चिह्न नहीं है ।

स्ववचननिराकृत—

जैसे—अनुमान प्रमाण नहीं है।

एतदेव तु यद्यसत्यार्थमन्यान्यसत्यार्थानि न दर्शितानि भवन्ति।

यदि इसीको असत्यार्थ कहें तो अन्य वचन असत्यार्थ नहीं कहे जा सकते।

इति चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्ति।

इस प्रकार चारों पक्षाभास निराकरण किये जाते हैं।

सिद्धस्यासिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य स्वयं वादिना तदा साधयितुमनिष्टस्योक्तमात्रस्य निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्यस्तेनैव स्वरूपेणाभिमतो वादिन इष्टो[1]ऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्यं दर्शितं भवति।

जो पदार्थ सिद्ध (विपरीत हेतुसे सिद्ध किया हुआ भी साध्य हो सकता है) अथवा असिद्ध भी साधनरूपसे माना गया हो, तथा स्वयंवादीको अभिष्ट न हो और उपरोक्त प्रत्यक्ष आदि निराकृतोंसे विपरीत हो तथावादीके द्वारा साध्य माना गया हो, तथा जो इष्ट और अनिराकृत हो वह पक्ष होता है। यह पक्षका निर्दोष लक्षण है।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम्।

इस प्रकार त्रिरूपलिङ्गका अभिधानरूप परार्थानुमान कहा गया।

तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः। उक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा।

तीनों रूपोंमेंसे एकके भी न कहनेसे साधनाभास या हेत्वाभास हो जाता है। [अथवा तीनों रूपोंके] कहे जानेपर भी हेतुके असिद्ध होने या उसमें संदेह होनेसे ही हेत्वाभास हो जाता है।

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरेकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ संदेहे चासिद्धो हेत्वाभासः।

प्रतिपाद्य और प्रतिपादकमेंसे धर्मीसम्बन्धी एकरूप (पक्षधर्मत्व) के सिद्ध न होनेपर अथवा उसमें संदेह होनेपर असिद्धहेत्वाभास होता है।

यथा अनित्यः शब्द इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम्।

जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष (चक्षुका विषय) है' में चाक्षुषत्व हेतु उभयासिद्ध है। (जो वादी और प्रतिवादी दोनों के लिये असिद्ध हो उसे उभयासिद्ध कहते हैं)।

---

१. पीटर्सन संस्करण का 'निराकृतः' पाठ अशुद्ध है।

२. पी० सं० में यहाँ विराम न होने से हेत्वाभास सामान्य और असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण निकालने में बड़ी कठिनता पड़ती है।

चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्तस्य च तरुष्व-सम्भवात् ।

'वृक्ष सजीव होते हैं, क्योंकि वह सब छालके उतर जाने पर मर जाते हैं (सूख जाते हैं)। इसमें वृक्षका सब छालके उतर जाने पर मर जाना प्रतिवादी (बौद्ध) को असिद्ध है। [अतः यह प्रतिवाद्यसिद्ध हेत्वाभास है।] क्योंकि बौद्धदर्शन विज्ञान, इन्द्रिय और आयुके निरोध होनेको ही मरण मानता है, जिसका होना वृक्षोंमें असम्भव है।

अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम् ।

'सुख आदि अचेतन हैं, क्योंकि वह उत्पत्तिमान् अथवा अनित्य हैं' इसमें उत्पत्तिमत्व अथवा अनित्यत्व स्वयं वादी अर्थात् सांख्यको ही असिद्ध है। [अतः यह हेतु वाद्यसिद्ध है।]

तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा संदेहेऽसिद्धः ।

तथा स्वयं उस साध्यधर्मीके संदिग्ध होनेसे हेतु संदिग्धासिद्ध भी है।

[अपने आप संदेह किये हुएका उदाहरण—]

यथा वाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्य-मानः संदिग्धासिद्धः ।

जैसे—वाष्प आदि भावसे सन्देह किया हुआ पृथ्वी आदिका समूह अग्निकी सिद्धिके लिये ग्रहण किये जानेपर संदिग्धासिद्ध है। (कहीं दूर पर धूल आदिको उड़ती हुई देखकर उसको धूम समझकर उससे अग्निको सिद्ध करने लगनेसे अभिप्राय है।)

[आश्रयासिद्धका उदाहरण]—

यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति ।

तदापातदेशविभ्रमे ।

जैसे—इस निकुञ्जमें मोर है। क्योंकि इधरसे ही मोरका शब्द आ रहा है। उस शब्दके आनेके स्थानमें विभ्रम हो सकनेसे यह आश्रयणासिद्ध है।

धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धो यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रो-पलभमानगुणत्वम् ।

धर्मीके सिद्ध होनेपर भी असिद्ध—

जैसे—'आत्मा सर्वगत (सर्वत्र व्याप्त) है' इस साध्यमें सर्वत्र उपलब्ध होनेका गुण असिद्ध है।

तथैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः।

तथा एकरूप (असपक्षमें असत्त्व) की असिद्धिमें अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः।

जैसे—शब्दके अनित्यत्व आदि धर्मके साध्यमें प्रमेयत्व आदि धर्म सपक्ष और विपक्ष दोनोंमें रहते हैं।

सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानस्तथास्यैव रूपस्य संदेहेऽप्यनैकान्तिक एव।

अथवा सर्वत्र या एकदेशमें रहने वाले इसी रूप (असपक्षमें असत्त्व) के संदेहमें भी अनैकान्तिक ही है।

यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमान् वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः। सर्वत्रैकदेशे वा सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते इति।

जैसे—'कोई विवक्षित पुरुष सर्वज्ञ अथवा रागादिमान् है' इस साध्यमें वक्तृत्व आदिधर्म संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति वाले हैं। [क्योंकि] सर्वज्ञ वक्ता सर्वत्र अथवा एकदेशमें कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

एवं प्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्मविषयत्वेन संदेहे हेतुत्वात्।

क्योंकि अदृश्यात्मविषय वाला (जिसका विषय अदृश्यात्मा है) अनुपलम्भ संदेहमें कारण है।

असर्वज्ञविपर्ययाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा। वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च।

असर्वज्ञका विपर्यय होनेसे वक्तृत्व आदिकी व्यावृत्ति संदिग्ध है [निश्चय नहीं है।] क्योंकि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्वमें विरोधाभाव भी है।

(व्याप्तिमान् व्यतिरेकको बतलाते हैं—]

यः सर्वज्ञः स वक्ता न भवतीत्यदर्शनेऽपि व्यतिरेको न सिध्यति, सन्देहात्[२]।

जो सर्वज्ञ होता है वह वक्ता नहीं होता। इस प्रकार सर्वज्ञ वक्ता के न देखे जाने पर भी व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता। क्योंकि उसमें सन्देह है।

द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः।

पदार्थोंका विरोध दो ही प्रकारका होता है। [जिनमेंसे प्रथम विरोध दिखलाया जाता है—]

---

१. पी० सं० का 'सत्वस्य' पाठ अशुद्ध है।

२. पी० सं० में 'संदेहात्' के पश्चात् विरामचिह्न न देकर उसकी अगले वाक्यमें सन्धि कर दी है, जिससे उसका अर्थ कुछ नहीं बैठता।

अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावः ।

अविकल (सम्पूर्ण) कारणवाले (जिसके सब कारण उपस्थित हों) विद्यमान पदार्थका अन्यभाव होना (विद्यमानसे अन्यभाव अर्थात् अभाव होना ।)

अभावाद्विरोधगतिः ।

अभावसे ही विरोध चल सकता है ।

शीतोष्णस्पर्शवत् ।

जैसे—शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का विरोध है ।

अब दूसरे विरोधको दिखलाते हैं—

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत् ।

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतासे भावके समान विरोध है । (जो एक दूसरेका परिहार करके अथवा उसका अभाव करके स्थित हों वह वस्तुएं परस्परपरिहारस्थित-लक्षण वाली हैं । जैसे—भाव और अभाव ।)

स च द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न सम्भवति ।

वह दोनों ही प्रकारका विरोध वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वमें संभव नहीं है ।

न चाविरुद्धविधेरनुपलब्धावप्यभावगतिः । रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावासिद्धेः ।

अविरुद्धविधिकी अनुपलब्धिमें भी अभाव नहीं हो सकता । क्योंकि राग आदिकों और वचन आदिका कार्यकारणभाव असिद्ध है ।

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिरिति संदिग्धव्यतिरेकोऽनैकान्तिको वचनादिः ।

अथवा अर्थान्तरकारणकी निवृत्तिमें (सहचारिके दर्शनमात्रसे) वचन आदि की निवृत्ति नहीं होती । अतएव सर्वज्ञमें वचन आदि संदिग्धव्यतिरेक अनैकान्तिक हैं ।

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः ।

दो रूपोंके विरुद्ध सिद्ध हो जानेपर विरुद्ध हेत्वाभास होता है ।

कयोर्द्वयोः ? सपक्षे सत्वस्यासपक्षे चासत्त्वस्य । यथाकृत-कत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः ।

किन दो के ? सपक्षमें सत्त्व और असपक्षमें असत्व के ।

जैसे—नित्यत्वके सिद्ध करनेमें कृतकत्व और प्रयत्नानन्तरीयकत्व विरुद्ध हेत्वाभास हैं ।

अनयोः सपक्षेऽसत्त्वमसपक्षे च सत्त्वमिति विपर्ययसिद्धिः ।

इन दोनोंके सपक्षमें न रहने और असपक्षमें रहनेसे विपर्ययकी सिद्धि होती है ।

---

१. पी० सं० का 'सपक्षे' पाठ ठीक नहीं है ।

एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ ।

यह दोनों साध्य (नित्यत्व) के विपरीत (अनित्यत्व) का साधन करनेसे विरुद्ध हैं ।

तत्र च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद्विरुद्धः ।

एक तीसरा इष्टविघातकृत् विरुद्ध भी है ।

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदिति ।

जैसे—चक्षु आदि परार्थ हैं । क्योंकि वह शयन, आसन आदि पुरुषके उपभोगके अङ्गोंके समान संघात (परमाणुसंचितिरूप) हैं ।

तदिष्टासंहतपरार्थ्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धः ।

वह [वादी सांख्यके] इष्ट असंहत (विषय) की परार्थताके विपरीत को साधन करनेसे विरुद्ध है ।

स इह कस्मान्नोक्तः ?

वह यहां क्यों नहीं कहा गया ?

अनयोरेवान्तर्भावात् ।

क्योंकि उसका इन दोनोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

न ह्ययमाभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते ।

क्योंकि यह इष्टविघातकृत् इन दोनों हेतुओंसे साध्यविपर्ययसाधनताकी अपेक्षा भिन्न नहीं है ।

न हीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेषः इति द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्या च संदेहेऽनैकान्तिकः ।

क्योंकि इष्ट और उक्तमें [एक दूसरेका साध्य होनेसे] कोई विशेष नहीं है । अतएव दो रूपोंमेंसे एकके असिद्ध होने तथा दूसरेके संदिग्ध होनेसे अनैकान्तिकता आती है ।

यथा वीतरागः कश्चित्सर्वज्ञो वा वक्तृत्वादिति

व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः । संदिग्धोऽन्वयः ।

जैसे—कोई वीतराग अथवा सर्वज्ञ है, क्योंकि वह वक्ता है । यहाँ पर व्यतिरेक असिद्ध और अन्वय संदिग्ध है ।

सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धमनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः ।

सर्वज्ञ और वीतरागके विप्रकर्ष (दूर) होनेसे वहां वचन आदिका होना या न होना संदिग्ध है । अतएव इन दोनों रूपोंमें संदेह होनेसे वक्तृत्व हेतु अनैकान्तिक है ।

सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति ।

जैसे—जीवित शरीर आत्मासहित है, क्योंकि उसमें प्राण आदि हैं।

न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति ।

यत्र प्राणादिर्वर्तते ।

सात्मक और निरात्मकसे भिन्न ऐसी कोई राशि नहीं है जहां प्राण आदि हों।

आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात् ।

आत्माके सद्भाव और अभावसे सबका संग्रह करनेसे [अन्यराशिका अभाव है।]

नाप्यनयोरेकत्र वृत्तिनिश्चयः ।

इन दोनों [सात्मक और निरात्मक] में एक स्थानमें सद्भावका निश्चय नहीं है।

सात्मकत्वेन निरात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्राणादेरसिद्धिः ।

क्योंकि सात्मक अथवा निरात्मक रूपसे प्रसिद्ध होनेसे प्राण आदिकी असिद्धि हो जावेगी।

तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धो प्राणादिः ।

अतएव प्राण आदि जीवितशरीर-सम्बन्धी हैं।

सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तत्वेनासिद्धेः ।

क्योंकि सात्मक और निरात्मक सबसे व्यावृत्त होनेसे असिद्ध है।

ताभ्यां न व्यतिरिच्यते न तत्रान्वेति । एकात्मन्यप्यसिद्धेः ।

उसका न तो उन दोनोंसे व्यतिरेक और न अन्वय ही है। क्योंकि वह (दोनों) एक आत्मामें भी सिद्ध नहीं हो सकते।

नापि सात्मकान्निरात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः ।

सात्मक और निरात्मकसे भी उसके अन्वय और व्यतिरेकके अभावका निश्चय नहीं होता।

एकाभावनिश्चयस्यापराभावनान्तरीयकत्वात् ।

क्योंकि एक के अभावका निश्चय दूसरेके अभावके निश्चय का अव्यभिचारी होता है।

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् ।

क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक अन्योन्यव्यवच्छेद रूप हैं।

अत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादनैकान्तिकः ।

अतएव अन्वय और व्यतिरेकमें सन्देह होनेसे अनैकान्तिक है।

साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ।

क्योंकि इससे साध्य और उसके विरोधीके निश्चयका अभाव है।

एवं त्रयाणां रूपाणामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोरसिद्धौ संदेहे च यथायोगमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ।

इस प्रकार तीनों रूपोंमें से एक २ अथवा दो २ रूपों के असिद्ध अथवा सन्दिग्ध होने पर यथायोग असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास होते हैं ।

विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । स इह कस्मान्नोक्तः ?

(शंका) विरुद्धाव्यभिचारी भी संशयका कारण कहा गया है । उसको यह क्यों नहीं कहा ?

(जो हेत्वन्तरसे सिद्ध किये हुए के विरुद्ध होता है वह व्यभिचारको प्राप्त नहीं होता । वही विरुद्धाव्यभिचारी है । अथवा जो विरुद्ध होते हुए अन्य साधनसे सिद्ध किये हुए धर्मके विरुद्ध साधन करनेसे व्यभिचारी हो वह अपने साध्यसे व्यभिचरित न होनेसे विरुद्धाव्यभिचारी होता है । जैसे हेत्वन्तर धूमसे सिद्ध किये हुए अग्नियुक्त पर्वत के जलयुक्त तालाव विरुद्ध है । अतएव तालाव पर्वत में व्यभिचरित नहीं हो सकता । अथवा जो विरुद्ध होते हुए अन्य साधन धूम से सिद्ध किये हुए धर्म अग्नि के विरुद्ध जल को सिद्ध न करनेसे उसमें अव्यभिचारी हो वह अपने साध्यसे व्यभिचरित न होनेसे विरुद्धाव्यभिचारी है ।)

अनुमानविषयेऽसंभवात् ।

(उत्तर) अनुमान के विषय (त्रैरूप्य) में असम्भव होनेसे उसका कथन यहाँ नहीं किया गया है ।

न हि संभवोऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः । न चान्योऽव्यभिचारी ।

क्योंकि उक्त लक्षण (त्रैरूप्य) वाले कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भ की विरुद्धता सम्भव नहीं है । और [उनसे भिन्न] अन्य कोई अव्यभिचारी भी नहीं है, [अतएव उन्हींमें हेतुता है ।]

[तब आचार्य दिग्नागने इस हेतुदोषको किस स्थल पर कहा है ? इसके लिये कहते हैं—]

तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थ-विचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः ।

अवस्तु के दर्शन के बलसे प्रवृत्त हुए आगमाश्रय अनुमानका आश्रय लेकर उसके अर्थके विचारोंमें विरुद्धाव्यभिचारी साधन दोष कहा है ।

शास्त्रकाराणामर्थेषु भ्रान्त्या विपरीतस्य स्वभावोपसंहारसंभवात् ।

क्योंकि अर्थमें भ्रान्ति हो जानेसे शास्त्रकारोंका विपरीतको स्वभाव कह देना सम्भव है ।

न ह्यस्य सम्भवो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्येषूपलम्भेषु।

यह यथावस्थितवस्तुकी स्थिति और आत्मकार्यों के उपलम्भ में सम्भव नहीं है।

तत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिः सम्बध्यते तत्सर्वगतं यथाकाशमभिसंबध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत्सामान्यमिति।

इसका उदाहरण—जो सर्वदेशावस्थित (सब स्थानों में रहने वाले) अपने सम्बन्धियों से सम्बन्धित होता है वह सर्वगत है। जैसे—आकाश सर्वदेशावस्थित स्वसम्बन्धियों से एक साथ सामान्य ही सम्बन्धित होता है।

तत्संबन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितस्वभावता।

तद्देशसंनिहितस्वभावता तत्सम्बन्धिस्वभावमात्रको कारण करने वाली है।

न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नो-तीति स्वभावहेतुप्रयोगः।

'जो जहाँ पर नहीं है वह उस प्रदेशको अपने द्वारा व्याप्त भी नहीं करता' यह स्वभावहेतु का प्रयोग है।

द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत्तत्रास्ति। तद्यथा क्वचिदविद्यमानो घटः।

दूसरा प्रयोग—जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता वह वहाँ पर नहीं है। जैसे—कहीं अविद्यमान घट।

नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति।

व्यक्तियों के अन्तराल में उपलब्धिलक्षण प्राप्त सामान्य उपलब्ध नहीं होता।

अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थ-साधनादेकत्र संशयं जनयतः।

यह अनुपलम्भप्रयोग और स्वभाव परस्पर विरुद्ध अर्थको साधन करने से एक स्थान में संशय को उत्पन्न करते हैं।

त्रिरूपो हेतुरुक्तः।

इस प्रकार त्रिरूप हेतु कह दिया।

तावतैवार्थप्रतीतिर्न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते, गतार्थत्वात्।

---

१. पी० सं० में 'न' नहीं है। डाक्टर शतीशचन्द्र विद्याभूषण के लेखसे विदित होता है कि न्यायबिन्दु के तिब्बती भाषा के अनुवाद में 'न' है। हमारी सम्मति में भी यहाँ इसका होना आवश्यक है।

उतनेसे ही अर्थकी प्रतीति हो जानेसे दृष्टान्त नामवाला कोई पृथक् अवयव साधन में नहीं है। इसलिये उसका लक्षण पृथक् नहीं कहा [क्योंकि उतने से ही] अर्थ विदित हो जाता है।

हेतोः सपक्ष एव सत्त्वमसपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्तो रूपमुक्त-मभेदेन पुनर्विशेषेण कार्यस्वभावयोर्जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ।

क्योंकि हेतु का सपक्ष में ही रहना और सब विपक्षोंका उससे शून्य रहना ये दोनों रूप कह दिये। विशेष अभेदसे कार्य जन्म [ज्ञातव्य] और स्वभाव का तन्मात्रानुबन्ध दर्शनीय कह दिया।

तच्च दर्शयता यत्र धूमस्तत्राग्निरसत्यग्नौ न क्वचिद् धूमो यथा महानसेतरयोः।

उसको दिखलाते हुए 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है'। अग्नि के अभाव में धूम भी नहीं होता। जैसे पाकशाला और तालाब में।'

यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमनित्यत्वाभावे कृतकत्वासंभवो यथा घटाकाशयोरिति दर्शनीयम्।

जहाँ कृतकत्व होता है वहाँ अनित्य होता है। अनित्यत्व के अभाव में कृतकत्व असम्भव है। जैसे घट और आकाश में। यह सब देखना चाहिए।

न ह्यन्यथा सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्त-प्रकारे शक्ये दर्शयितुम्।

तत्कार्यतानियमः कार्यलिङ्गस्य स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन व्याप्तिः।

क्योंकि अन्यथा यथोक्तप्रकार के सपक्ष और विपक्षमें सत्त्व और असत्त्व और कार्यलिङ्ग का तत्कार्यतानियम और स्वभावलिङ्ग की स्वभाव से व्याप्ति नहीं दिखलायी जा सकती।

अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति।

इस अर्थ के समक्ष जाने पर दृष्टान्त समक्ष में आ ही जाता है।

एतावन्मात्ररूपत्वात्तस्येति।

क्योंकि वह केवल उतना ही है।

एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति।

इससे ही दृष्टान्तदोषों का भी निराकरण हो जाता है।

यथा-नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, कर्मवत्परमाणुवद् घटवदिति।

जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि वह कर्म, परमाणु और घटके समान अमूर्त है।

साध्यसाधनधर्मोभयविकलास्तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च ।

साध्यधर्मविकल, साधनधर्मविकल, उभयविकल तथा सन्दिग्धसाध्यधर्म आदि (सन्धिग्घसाधनघर्म तथा सन्दिग्धोभय) [दृष्टान्त दोष हैं]। (इनमें से कर्म साध्यविकल, परमाणु साधनविकल और घट उभयविकल दृष्टान्त हैं।)

यथा रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत् ।

जैसे—यह राग आदि से युक्त हैं, क्योंकि मार्गमें चलनेवाले पुरुषके समान बोलता है (यह संदिग्घसाध्यधर्म का उदाहरण है)।

मरणधर्मोऽयं पुरुषो रागादिसत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत् ।

यह पुरुष मरणधर्मवाला है, क्योंकि यह मार्ग में चलने वालों के समान रागादिमान है। (यह संदिग्धसाधनघर्म दृष्टान्त है।)

असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्वाद्रथ्यापुरुषवदिति ।

यह असर्वज्ञ है क्योंकि यह रथ्यापुरुष (मार्ग में चलने वाले पुरुष) के समान रागादिमान् है। (यह सन्दिग्धोभय दृष्टान्त है।)

अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च ।

अनन्वय और अप्रदर्शितान्वय भी [दृष्टान्त दोष हैं।]

(जिस दृष्टान्तमें साध्य और साधनमें सम्भवता तो दिखलाई दे किन्तु वह साध्यसे व्याप्त न हो वह अनन्वय है। जिस दृष्टान्त में अन्वय के होते हुए भी उसे कहने वाले ने दिखलाया न हो उसे अप्रदर्शितान्वय कहते हैं।)

यथा यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत् ।

जैसे—जो वक्ता होता है वह इष्ट पुरुष के समान रागादिमान् होता है। (यह अनन्वय का उदाहरण है।)

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति ।

शब्द अनित्य है। क्योंकि वह घटके समान कृतक होता है। (यह अप्रदर्शितान्वय का उदाहरण है।)

तथा विपरीतान्वयः ।

तथा विपरीतान्वय—

यदनित्यं तत्कृतकम् ।

जो अनित्य होता है वह कृतक होता है।

इति साधर्म्येण ।

यह साधर्म्य से [नौ दृष्टान्त कह दिए।]

वैधर्म्येणापि परमाणुवत्कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः ।

वैधर्म्य से भी 'परमाणु, कर्म और आकाशके समान' ये साध्याव्यतिरेकि आदि दृष्टान्त दोषों के उदाहरण हैं।

(इसमें परमाणु साध्याव्यतिरेकि, कर्म साधनाव्यतिरेकि और आकाश उभयाव्यतिरेकि दृष्टान्त हैं।)

तथा संदिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः।

तथा संदिग्धसाध्यव्यतिरेक आदि—

यथाऽसर्वज्ञः[1] कपिलादयोऽनाप्ता वा। अविद्यमानसर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति।

जैसे—कपिल आदि असर्वज्ञ अथवा अनाप्त हैं, क्योंकि उनमें सर्वज्ञता का लिङ्गभूत प्रमाणातिशयशासन नहीं है।

अत्र वैधर्म्योदाहरणं यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्।

यद्यथा—ऋषभवर्धमानादिरिति।

इस प्रमाणमें वैधर्म्य उदाहरण—

जो सर्वज्ञ या आप्त होता है वह ज्योतिर्ज्ञान आदि का उपदेश देता है। जैसे—ऋषभ और वर्धमान आदि [जैन तीर्थंकर।]

तत्रासर्वज्ञतानाप्तनयोः साध्यधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः।

क्योंकि साध्यधर्म असर्वज्ञता और अनाप्तता में व्यतिरेक सन्दिग्ध है।

संदिग्धसाधनव्यतिरेकः।

यथा—न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चित्पुरुषो रामादिमत्त्वादिति।

सन्दिग्धसाधन व्यतिरेक—

कोई पुरुष त्रयीवित् (जो ऋक्, यजुः और साम इन तीनों वेदों को जानता है) ब्राह्मणसे ग्राह्यवचनवाला (जिसका वचन ग्रहण किये जाने योग्य हो) नहीं हैं। क्योंकि पुरुष राग आदि से युक्त होता है।

अत्र वैधर्म्योदाहरणम्।

ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तस्तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः।

इसमें वैधर्म्योदाहरण—

जो ग्राह्यवचन वाले होते हैं। वह रागादिमान् नहीं होते। जैसे—गौतम आदि

---

१. पी० सं० में 'सर्वज्ञाः' पाठ है, जो अशुद्ध है।

धर्मशास्त्रोंके बनानेवाले। इस प्रकार गौतम आदिसे रागादिमत्त्व साधनधर्म की व्यावृत्ति की।

संदिग्धासंदिग्धोभयव्यतिरेकः।

यथाऽवीतरागाः कपिलादयः परिग्रहाग्रहयोगादिति।

संदिग्धासंदिग्धोभयव्यतिरेक—

जैसे—कपिल आदि वीतराग नहीं है; क्योंकि उनमें परिग्रह और आग्रह है।

अत्र वैधर्म्येणोदाहरणम्।

यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहौ यथा ऋषभादेरिति।

ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः।

इसमें वैधर्म्योदारण—

जो वीतराग होता है उसके परिग्रह और आग्रह नहीं होता। जैसे—ऋषभ आदि। ऋषभ आदि के साध्यधर्म अवीतरागत्व और साधनधर्म परिग्रह और आग्रहके योगमें व्यतिरेक संदिग्ध है।

अव्यतिरेको यथाऽवीतरागो वक्तृत्वात्।

अव्यतिरेक—

वक्ता होनेसे वीतराग नहीं है।

वैधर्म्योदाहरणं यत्र वीतरागत्वं नास्ति स वक्ता। यथोपलखण्ड इति। यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तया सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः।

वैधर्म्योदाहरण—

जिसमें वीतरागता होती है वह वक्ता नहीं होता। जैसे—पाषाणखण्ड। यद्यपि पाषाणखण्डसे दोनों की व्यावृति हो जानेसे 'सभी वीतराग वक्ता नहीं होते' इस व्याप्तिसे व्यतिरेकके सिद्ध न होनेसे अव्यतिरेक है।

अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति।

अप्रदर्शितव्यतिरेक—

जैसे—शब्द अनित्य है; क्योंकि वह आकाशके समान कृतक है।

वैधर्म्येणापि विपरीतव्यतिरेको यथा यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति।

वैधर्म्यसे भी विपरीतव्यतिरेक—

जो कृतक नहीं होता वह नित्य होता है।

न ह्येभिर्दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षणं सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे

च सर्वत्रासत्त्वमेव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा ।

इन दृष्टान्ताभासों से हेतुका सामान्यलक्षण, सपक्षमें ही रहना और विपक्षमें सर्वत्र अभाव अथवा विशेषलक्षणको निश्चय रूपसे दिखला ही नहीं सकते ।

तदर्थापत्त्यैषां निरासो वेदितव्यः ।

अत एव उनका निराकरण अर्थापत्ति (सामर्थ्य) से ही जान लेना चाहिये ।

दूषणा न्यूनतायुक्तिः ।

न्यूनता का कहना दूषणा है ।

ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनदोषा उक्तास्तेषामुद्भावनं दूषणम् ।

जो पहिले न्यूनता आदि साधनदोष कहे हैं उनका कहना दूषण है ।

तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात् ।

क्योंकि उससे दूसरेके इष्ट अर्थ की सिद्धिमें रुकावट होती है ।

दूषणाभासास्तु जातयः ।

दूषणाभास जातियाँ हैं ।

अभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति ।

अभूत दोषका प्रकट करना जात्युत्तर है ।

इति तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

न्यायबिन्दुः समाप्तः ।

इति तृतीय परिच्छेद समाप्त ।

न्यायबिन्दु समाप्त ।



---

१. मुद्रित पुस्तक में 'अनुभूत०' पाठ है । किन्तु टीका से हमारे ही पाठ की पुष्टि होती है । इसके अतिरिक्त पहिले पाठ से अर्थ भी ठीक नहीं बैठता ।